दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९२ तंत्री जगजीवन बाउचंद दोशी वर्ष २२ अंक नं० ४

सत्संग का फल

'सत्संग हुआ है उसका परमार्थ क्या होता है? जिसे सत्संग हुआ हो, उस जीव की दशा कैसी होनी चाहिये?—वह ध्यान में लेना चाहिये। पाँच वर्ष का सत्संग हुआ है तो उस सत्संग का फल प्रगट होना चाहिये और उस जीव को तदनुसार वर्तना चाहिये। वह वर्तन जीव को अपने कल्याण के हेतु ही करना चाहिये, परंतु लोगों को दिखलाने के लिये नहीं। जीव के वर्तन से लोगों को ऐसी प्रतीति होती है कि अवश्य ही इसे किन्हीं सत्पुरुष की प्राप्ति हुई है और उन सत्पुरुष के समागम का, सत्संग का यह फल है, इसलिये अवश्य वह सत्संग है, इसमें संदेह नहीं है। *(श्रीमद् राजचंद: उपदेश छाया-३)*

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

अगस्त १९६६] वार्षिक मूल्य २) (२५६) एक अंक २५ पैसा [श्रावण सं० २०२३

सोनगढ़ (सुवर्णपुरी) समाचार

तारीख ५-८-६६ परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख शांति में विराजमान हैं। प्रवचन में योगसार दोहा, पश्चात् अब १५वीं बार श्री समयसारजी शास्त्र शुरु हुआ है, दोपहर को नियमसारजी शास्त्र चल रहे हैं।

पंडितजी श्री बंसीधरजी न्यायालंकार इंदौर निवासी जो गतवर्ष माफिक अपनी रुचि से श्रवण-मनन-तत्त्वचर्चा और सत्संगति अर्थ पधारे हैं। शिक्षण शिविर तारीख १०-९-६६ तक चलेगा, वहाँ तक ठहहरन का पंडितजी का विचार है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक १ मास में छप जावेगा।

नियमसारजी शास्त्र पर प्रवचन समाप्त होने बाद, पुरुषार्थसिद्धिउपाय-श्रावकाचार प्रवचन शुरु होंगे।

प्रौढ़-जैन शिक्षणवर्ग में पाठ्यपुस्तक

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) तारीख २१-८-६६ से २० दिन तक शिक्षण शिविर में।

(१) उत्तम श्रेणी में-मोक्षमार्गप्रकाशक में से ७ वाँ अध्याय-नयाभासों का स्वरूप तथा जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला में से छह कारक आदि।

(२) मध्यम श्रेणी में-द्रव्यसंग्रह में से नौ अधिकार; प्रश्नोत्तर माला में से द्रव्य-गुण-पर्यायों का स्वरूप।

(३) जघन्य श्रेणी में-छहढाला; जैन सिद्धांत प्रवेशिका।

दशलक्षण पर्व पर—

जहाँ पर प्रवचनकार विद्वानों की आवश्यकता हो, समाज व संस्था के नाम से पत्र दीजिये।

पता-प्रचार विभाग मुमुक्षु महा मंडल

ठि० श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

दशलक्षण-पर्यूषण पर्व

इस साल भी भाद्रपद सुदी पंचमी से १० दिन तक मनाया जावेगा।

विषय-सूची

१. ज्ञानी को वंदन
२. ज्ञान
३. भावना
४. निर्जरा
५. दो बातें
६. वस्तुस्वरूप की मर्यादा
७. शिवपुरी का पथिक
८. आनंद का दिवस
९. जिन वचन को ग्रहण करके
१०. रानी चेलना का धर्म प्रेम
११. सिंह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है
१२. वस्तुस्वरूप की प्रसिद्धि
१३. अचिंत्य महिमावंत आत्म शक्ति
१४. परिणामों से ही बंध व मोक्ष होता है
१५. सच्चा सेवक किसे कहना ?
१६. आशा का गड्ढा
१७. चर्चा और प्रवचन में से
१८. सम्यग्ज्ञान मंगलरूप है
१९. जिनरंजन या जनरंजन
२०. समाचार संग्रह

शाश्वत् सुख का मार्गदर्शक मासिक-पत्र

आत्मधर्म

: संपादक : जगजीवन बाउचंद दोशी (सावरकुंडला)

अगस्त : १९६६ ☆ वर्ष २२वाँ, श्रावण वीर नि०सं० २४९२ ☆ अंक : ४

ज्ञानी को वंदन....

उपशमरस जो बरसाते हैं उन ज्ञानी को मेरा वंदन...
समकित पा स्वरूपसाधन में जो रत हैं उनको अभिनंदन...
अंतर्मुख है जीवन जिनका, स्रोत वह रहा है आनंद का...
चलती है धारा विराग की, देखा अनुपमपद चेतन का...
समझा निज आनंद निधान को, सिद्ध दशा का करते ध्यान...
बना एक ही ध्येय निरंतर, निज में ही देखा कल्याण...
उदयभाव को दूर हटाकर उपशमभाव बढ़ाते हैं...
शांतभाव-सरिता में बहकर सुख-समुद्र में न्हाते हैं...
लौकिक-रस का स्वाद छोड़कर आनंद रस का करते पान...
दर्शन जिनके मंगलकारी, सबको मंगल-तीर्थ समान...
उपशमरस जो बरसाते हैं उन ज्ञानी को मेरा वंदन...
समकित पा स्वरूपसाधन में जो रत हैं उनको अभिनंदन।

—ब्रह्मचारी हरिलाल

ज्ञान

[समयसार-सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार के प्रवचनों से (२)]

आत्मा के ज्ञानस्वभाव की पर से निरपेक्षता है; ज्ञान की निर्मलता के कारण ज्ञाता-ज्ञेयपने के संबंध जितना व्यवहार होने पर भी परमार्थतः ज्ञान का और पर का कोई संबंध नहीं है; परस्पर एक-दूसरे का अत्यंत अकर्तापना है। अरे, 'आत्मा का ज्ञान है अथवा ज्ञायक ज्ञायक का ही है'—ऐसे स्वस्वामित्व के भेदविकल्परूप व्यवहार भी जहाँ परमार्थ अनुभव में नहीं चलता, अंतर का वह विकल्प भी परमार्थस्वरूप को पकड़ने में काम नहीं आता, वहाँ बाह्य-पर के साथ के संबंधरूप व्यवहार की तो बात ही क्या ? ज्ञान का निरपेक्ष स्वरूप समझाकर पर के साथ का संबंध छुड़ाकर परमार्थ स्वभाव की ओर जाने का मार्गदर्शन करनेवाले इस प्रवचन का प्रथम भाग 'आत्मधर्म' के गतांक में आ गया है; आगे यहाँ दिया जा रहा है।

अपने में जो नहीं है, उसका त्याग क्या ?

ज्ञान-दर्शन से भरपूर जो आत्मस्वभाव; उस स्वभाव में राग या परद्रव्य कभी तन्मय हुए ही नहीं, तो फिर 'मैं उन्हें छोड़ूँ'—ऐसा स्वभाव में कहाँ रहा ? जिसप्रकार सफेद चूने में कालेपन का अभाव ही है, तो वह कालेपन को क्या छोड़ेगा ? वह तो कालेपन के अभावरूप स्वभाववाला ही है। उसीप्रकार चेतनेवाले आत्मा में अचेतन आदि परद्रव्यों का अभाव ही है तो वह चेतयिता उन परद्रव्यों को क्या छोड़ेगा ? वह तो परद्रव्य के अभावयप स्वभाववाला ही है। पर का त्याग करनेवाला कहना, वह तो व्यवहार से ही है, और आत्मा अपने निर्मल भावों को ग्रहण करता है, उसमें भी भेदरूप व्यवहार है। आत्मा अपने निर्मल भावों में तन्मय ही है; उनसे कहीं पृथक् नहीं है कि उन्हें ग्रहण करे। आत्मा स्वभाव से ही ज्ञान-दर्शन से भरपूर है और पर के त्यागरूप है—ऐसे स्वभाव को लक्ष में लेकर उसमें एकाग्र हुआ, वहाँ ग्रहण करने योग्य सब ग्रहण किया और छोड़ने योग्य सब छोड़ दिया। जिसप्रकार चूना दीवाररूप नहीं है; उसीप्रकार ज्ञाताद्रव्य कहीं पररूप नहीं होता। पररूप नहीं होता अर्थात् पर को छोड़ता भी नहीं, क्योंकि अपने में जो है ही नहीं, उसे छोड़ना क्या ?

तू चेतयिता... ज्ञान-दर्शन से भरपूर, क्या राग तेरे स्वभाव में है ?—नहीं; स्वभाव में राग का अभाव है। तो जिसका अभाव है, उसे छोड़ना कैसे ?

ज्ञान में तन्मयता का नाम ही राग का त्याग है।

'राग का त्याग किया' अर्थात् क्या ? कि जैसा स्वभाव है, वैसा जानकर उसमें जहाँ एकाग्र हुआ, वहाँ पर्याय में राग की उत्पत्ति नहीं हुई... पहले पर्याय में राग था और अब वह राग नहीं हुआ, उस अपेक्षा से 'राग का त्याग' कहा है, परंतु उस समय राग था और फिर छोड़ा-ऐसा उसका अर्थ नहीं है। स्वभाव में तो राग था ही नहीं। यदि स्वभाव में राग हो तो ज्ञान की भाँति राग के साथ भी आत्मा तन्मय हो जाये और राग कभी छूट नहीं सकेगा; अथवा राग को छोड़ने से ज्ञान भी छूट जायेगा। इसलिये ज्ञान तो ज्ञान ही है, ज्ञान में राग तन्मय है ही नहीं। ज्ञान, ज्ञान में तन्मय होकर परिणमित हुआ, उसी में राग का त्याग है।

अबाधित नियम

जगत का अबाधित नियम है कि-कोई भी वस्तु अन्य वस्तुरूप से रूपान्तर नहीं हो जाती; प्रत्येक वस्तु सदैव निजस्वरूप में ही रहती है। कोई वस्तु निजस्वरूप को छोड़ती नहीं है और परस्वरूप होती नहीं है। आत्मा के ज्ञानस्वरूप में अन्य कोई प्रविष्ट हो जाये, ऐसा कभी नहीं होता। भाई, तेरे आत्मा में परद्रव्य प्रविष्ट नहीं हो गया है और तू कभी पररूप नहीं हुआ है; स्व और पर पृथक् के पृथक् ही हैं।

जिसका अभाव हो, वह स्वभाव नहीं है

सिद्धदशा में राग का अभाव हुआ है न! यदि राग उस स्वभाव में होता तो उसका अभाव कहाँ से होता ? स्वभाव का तो नाश होता ही नहीं है। जैसे—'ज्ञान' स्वभाव है, इसलिये उस ज्ञान का कभी नाश नहीं होता, उसीप्रकार राग यदि स्वभाव हो तो उसका कभी अभाव न हो। जिसका अभाव हो, वह स्वभाव नहीं है। इसलिये वर्तमान पर्याय में राग होने पर भी स्वभावदृष्टि से तो आत्मा राग के त्यागस्वरूप ही है। ऐसे स्वभाव की आराधना से ही पर्याय में राग का अभाव होता है। 'राग को छोड़ूँ'—यह पर्यायलक्ष से है; अखंड स्वभाव को लक्ष में लें तो 'राग है और उसे छोड़ूँ'—ऐसे प्रकार उसमें नहीं हैं। तथा ऐसे स्वभाव में एकाग्रता से ही पर्याय में राग के अभावरूप परिणमन हो जाता है। स्वभाव तो राग के अभावरूप है और पर्याय उसमें ढली, वहाँ वह राग के अभावरूप हो गई।—इसके अतिरिक्त अन्य रीति से राग का अभाव और बंधन से छुटकारा नहीं होता।

ज्ञान में बोझा नहीं है

अरे, तू अपने ज्ञानस्वभाव को तो देख। ज्ञानस्वभाव पर किसी का बोझ है ही नहीं। तुझमें तो तेरा ज्ञान-दर्शन स्वभाव है। अपने निजस्वभाव को आत्मा कभी छोड़ता नहीं है और परभाव को अपने में कभी ग्रहण नहीं करता। आत्मस्वभाव में परभाव का बोझ नहीं है। ऐसा आत्मस्वभाव स्वानुभव में लेने से तुझे मोक्षमार्ग का लाभ होगा।

स्वतंत्र परिणमन में व्यवहार की हद कितनी ?

यद्यपि परमार्थ से ज्ञान, वह ज्ञान ही है; ज्ञान को पर के साथ संबंध नहीं है; ज्ञान स्वयं पर में नहीं जाता और पर को अपने में नहीं लाता; परंतु ज्ञानसामर्थ्य ऐसा विकसित हुआ है कि सामनेवाले पदार्थों को अपने में ज्ञेय बनाता है। पहले पदार्थों को राग-द्वेष का निमित्त बनाता था, उसके बदले अब पदार्थों को ज्ञान का निमित्त बनाता है। ज्ञान ज्ञानरूप से परिणमित हुआ, वहाँ उसे पदार्थ ज्ञेयरूप से निमित्त हुए; यह तो ठीक, परंतु यह ज्ञान भी ज्ञेयपदार्थों को निमित्त हुआ। पुद्गलादि पदार्थ ज्ञेयरूप परिणमित होते हैं, तो उनके अपने ही स्वभाव से होते हैं; कहीं ज्ञान उन्हें परिणमित नहीं करता; परंतु उसके ज्ञेयपने में इस चेतयिता का ज्ञान निमित्त होता है। देखो, यह व्यवहार! एक-दूसरे का कुछ करे, ऐसा तो व्यवहार नहीं है। ज्ञाता-ज्ञेयपने का संबंध इतना ही व्यवहार है। ज्ञान पर को जाने, इतना व्यवहार परंतु ज्ञान पर को जानते हुए उसमें कुछ कर डाले या परवस्तु ज्ञान में ज्ञात होने से ज्ञान को कुछ राग-द्वेष करा दे-ऐसा नहीं है। व्यवहार में भी दोनों का स्वतंत्र परिणमन स्वीकार करके निमित्त-नैमित्तिक संबंध बतलाया है। इतनी ही व्यवहार की सीमा है।

विकसित होता हुआ ज्ञान परद्रव्य को राग-द्वेष का निमित्त नहीं बनाता।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र की जो निर्मल पर्याय विकसित हुई, उसमें व्यवहार कैसा होता है, वह यहाँ बतलाते हैं। पर के साथ का संबंध तोड़कर अंतर्मुख स्वभाव में तन्मयरूप से परिणमित ज्ञान, विकल्प से पृथक् हुआ, वहाँ अब उस विकल्प के साथ उसे कर्ताकर्मपना तो नहीं रहा, परंतु उलटा वह विकल्प ज्ञेयरूप से ज्ञान में निमित्त हुआ। प्रतिकूल संयोग आने से क्या ज्ञान में प्रतिकूलता आ गई ? तो कहते हैं कि नहीं; वह तो मेरे ज्ञान का निमित्त है, वह मुझे द्वेष का निमित्त नहीं है, परंतु ज्ञान का ही निमित्त है। उसीप्रकार अनुकूल संयोग आये, वहाँ भी ज्ञानी तो निजभाव से ज्ञानरूप ही परिणमित होता हुआ उसे ज्ञान का ही निमित्त बनाता है। ज्ञानी

ज्ञानरूपता को छोड़कर अन्यभावरूप से परिणमित होता ही नहीं। ज्ञान स्वयं किसी संयोगरूप परिणमित नहीं होता और संयोग को अपनेरूप से परिणमित नहीं करता। ऐसा ज्ञान, वह निजस्वरूप है। ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हों, वह तो ज्ञान के विकास की प्रसिद्धि करते हैं। विकासशील ज्ञान में प्रतिभासित ज्ञेय कहीं राग-द्वेष का कारण नहीं होते।

ज्ञान ज्ञानरूप; ज्ञेय ज्ञेयरूप; ज्ञाता को रागद्वेष कैसे ?

ज्ञान शरीर को जाने, वहाँ ज्ञान ज्ञानरूप परिणमित होता है; शरीर शरीररूप परिणमित होता है; शरीर को जानते हुए ज्ञान कहीं शरीररूप नहीं हो जाता और शरीर के रोगादि कहीं ज्ञान में नहीं घुस जाते। दूर के पदार्थ हों या निकट के हों, ज्ञान तो दोनों से पृथक् का पृथक् रहकर ही जानता है। अहा, ज्ञान का स्वभाव क्या है, उसे जाने तो कितनी शांति! ज्ञान में पर का कोई हस्तक्षेप नहीं है। आत्मा जिसरूप परिणमित ही नहीं होता, उससे आत्मा को लाभ या हानि कैसे होंगे ? पर को जानते हुए आत्मा कहीं उस पदार्थ को अपने में नहीं लाता। ज्ञान ज्ञान ही है—यह निश्चय है; ज्ञान पर को जानता है—ऐसा पर के साथ का संबंध, सो व्यवहार है। व्यवहार में भी आत्मा ज्ञाता और परवस्तु ज्ञेय—इतना ज्ञाता-ज्ञेयपने का ही संबंध है, इससे विशेष कोई संबंध नहीं है। ज्ञान का स्वभाव तो जानने का ही है, इसलिये वह छूट नहीं सकता। ज्ञाता पर्याय अपने में रहती है, पर में नहीं जाती। ज्ञाता ज्ञातास्वरूप ही रहे तो उसे सुख-दु:ख क्या ? ज्ञेयरूप से सब समान हैं; वहाँ मैं इससे सुखी और इससे दु:खी—ऐसे दो भाग नहीं हैं और ज्ञान में भी ऐसा स्वभाव नहीं है कि पदार्थ को जानते हुए उससे संतुष्ट या असंतुष्ट हो। ऐसे ज्ञानस्वभाव को स्वीकार करना, वह प्रथम सत् का स्वीकार है।

ज्ञान की प्रतीति वहाँ मोक्ष का पुरुषार्थ

आत्मा ज्ञान से भरपूर है, उसमें से प्रवाह आता है। मेरी पर्याय में मोक्षदशा होनेवाली है; उस मोक्षदशा का अर्थात् सर्वज्ञता और पूर्णानंद का सामर्थ्य वर्तमान में भी मेरे स्वभाव में भरा है। —इसप्रकार धर्मी जीव अंतर्दृष्टिपूर्वक स्वभाव-सामर्थ्य का अनुभव करता है। ऐसे स्वभाव की प्रतीति के बिना मोक्ष का पुरुषार्थ प्रारम्भ नहीं होता।

अज्ञानी ज्ञान और ज्ञेय को एकमेक करता है

आत्मा अर्थात् सर्वज्ञस्वभावी परमात्मा; ज्ञानभाव में तन्मय होकर परिणमित होती हुई वस्तु को ही परमार्थ आत्मा कहते हैं, राग को आत्मा नहीं कहते। ऐसे आत्मा को प्रतीति में—स्वानुभव में लिये बिना ज्ञानपर्याय में निश्चय क्या और व्यवहार क्या, उसकी खबर नहीं

पड़ती। जिसे भिन्न ज्ञान की खबर नहीं है, वह ज्ञान-ज्ञेय को एक-दूसरे में किसी न किसी प्रकार एकमेक कर डालता है। उसे यहाँ समझाते हैं कि भाई, ज्ञान ज्ञान में ज्ञेय ज्ञेय में—दोनों भिन्न-भिन्न अपने-अपने में वर्त रहे हैं, एक का दूसरे के साथ कोई संबंध नहीं है। ज्ञेयों में कुछ छेदन-भेदन हो, उससे कहीं ज्ञान का छेदन-भेदन नहीं होता। चैतन्य वस्तु का दरबार कोई अनोखा है! उसमें किसी परज्ञेय का प्रवेश नहीं है तथा समस्त ज्ञेय ज्ञात होते हैं। ज्ञान की सीमा न टूटे, तथापि ज्ञेय उसमें ज्ञात हो, ऐसा व्यवहार है। ज्ञाता स्वयं ज्ञानमय ही परिणमित होता है, वह निश्चय है, उसमें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है।—इसप्रकार ज्ञान की भाँति श्रद्धा, चारित्र आदि गुणों में निश्चय-व्यवहार यथायोग्य समझना।

चैतन्यशक्ति का ध्यान तृप्ति उत्पन्न करता है

तत्त्वानुशासन की १९२वीं गाथा में कहते हैं कि—अरिहंत और सिद्ध का ध्यान करना चाहिये। वहाँ प्रश्न उठा है कि—अरिहंतपद या सिद्धपद वर्तमान में तो आत्मा में नहीं है, फिर उसका ध्यान करना, यह तो झूठमूठ बात है! वहाँ उसका समाधान करते हुए कहते हैं कि हे भाई! कुछ काल पश्चात् आत्मा में जो अरिहंतपद और सिद्धपद प्रगट होनेवाले हैं, उन पर्यायों के साथ इस आत्मद्रव्य का संबंध वर्तमान में भी है; आत्मा में वे पर्यायें प्रगट होने की शक्ति भरी है; सर्वज्ञस्वभाव वर्तमान में भी शक्तिरूप से विद्यमान है; उसका ध्यान करने से तृप्ति, शांति एवं निराकुल आनंद वर्तमान में भी अनुभव में आता है। यदि असत् हो तो उसके ध्यान से शांति कैसे होगी? जैसे-किसी को प्यास लगी हो और मृग-मरीचिका में 'यह पानी है'—ऐसी असत् कल्पना से पानी की ओर दौड़े तो उससे कहीं प्यास नहीं मिटेगी; परंतु वहाँ तो हमें अरिहंत और सिद्धपद के ध्यान से आत्मस्वभाव की सन्मुखता होती है और चैतन्य के अमृतपान से अशांति मिटकर प्रत्यक्ष शांति का वेदन होता है, इसलिये वह ध्यान असत् नहीं किंतु सत् है। सत्स्वभाव में जो सामर्थ्य भरा है, उसका ध्यान अवश्य तृप्ति उत्पन्न करता है। अरे, पूर्ण स्वभावसामर्थ्य वर्तमान में विद्यमान है, उसे अंतर में देखे तो मार्ग खुल जाये और सब समाधान हो जायें।

मोक्षमार्ग की सिद्धि अभेदस्वभाव के आश्रय से है; व्यवहार द्वारा कुछ भी सिद्धि नहीं है।

आत्मा में कर्ता, कर्म, करण आदि जो छह कारक शक्ति है, वह भी वास्तव में पर से निरपेक्ष है। आत्मा वीतरागपर्यायरूप परिणमित हुआ, वह मोक्ष का निश्चयसाधन है। और

वास्तव में तो साधक और साध्य ऐसे दो भेद से आत्मा को लक्ष में लेना, वह भी व्यवहार है। उस व्यवहार से (भेद के विकल्प से) क्या साध्य है? तो कहते हैं कि कुछ भी साध्य नहीं है। भेद के विकल्प से पार एकाकार स्वभाव जैसा है, वैसा साक्षात् ज्ञान में-अनुभव में लेना, वही परमार्थ है। अरे, राग को व्यवहार साधन कहना, उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इसलिये वह आश्रय करनेयोग्य नहीं है। मोक्षमार्ग के साधन की भूमिका के साथ जो राग होता है, वह उसकी मर्यादा का होता है, इसलिये अनुकूल ही होता है, भूमिका से विरुद्ध राग कदापि नहीं होता;—ऐसे राग को व्यवहार-साधन कहा जाता है, तथापि उस व्यवहार के आश्रय से कोई सिद्धि नहीं है; सिद्धि तो परमार्थ साधन से ही है। आत्मा के ज्ञान की भाँति सभी निर्मल पर्यायों में भी निश्चय-व्यवहार को इसीप्रकार समझ लेना। जितना भेदरूप व्यवहार है अथवा जितना पर के साथ संबंध बतलाते हैं—वह सब व्यवहार कोई प्रयोजनरूप नहीं है, अर्थात् उसके आश्रय से मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती। अभेदरूप जो परमार्थस्वभाव है, उसके साथ ही निर्मल पर्याय की अभेदता है और उस अभेद के आश्रय से ही मोक्षमार्गरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है। इसलिये पर से निरपेक्ष ऐसा वह शुद्धतत्त्व ही अनुभवनीय है।

भावना

* हे जीव! तुझे निरंजन होना हो तो, जिनरंजन कर... और जनरंजन की वृत्ति छोड़।
* हे जीव! संसार भ्रमण करते हुए तूने अनंत काल से घोर दुःख सहे, परंतु जिनभावना कभी नहीं भायी। इन संसार दुःखों से छूटने के लिये अब तो जिनभावना भा।
* मिथ्यात्वादि भाव जीव ने पहले सुचिरकाल भाये हैं। सम्यक्त्वादि भाव जीव ने पहले कभी नहीं भाये।
* भवचक्र में पहले नहीं भायी हुई भावनाएँ अब मैं भाता हूँ। वे भावनाएँ पहले नहीं भायी होने से मैं भव के अभाव के लिये उन्हें भाता हूँ; क्योंकि भव का अभाव तो भव भ्रमण के कारणभूत भावनाओं से विरुद्ध प्रकार की, पूर्वकाल में नहीं भायी हुई ऐसी अपूर्व भावनाओं से ही होता है।

निर्जरा

शुभपरिणाम में उपयोग को लगाकर उसे जो लाभ (संवर-निर्जरा का) कारण माने उसका उपयोग तो राग में एकाग्रता से मलिन हो रहा है और वह तो आस्रव का ही कारण है; उसे ज्ञानी के मार्ग की प्रसिद्धि नहीं होती। ज्ञानी के अंतर में तो सम्यग्दर्शनरूपी दीपक द्वारा मार्ग की प्रसिद्धि हुई है। उसका उपयोग राग से पृथक् हो गया है। इसलिये उपयोग में शुद्धता प्रगट हुई है, वह शुद्धता संवर-निर्जरा का कारण है।

[पंचास्तिकाय के प्रवचन से]

जगत में अनंत आत्मा; प्रत्येक आत्मा में अनंत गुण; और प्रत्येक गुण में अनंत शक्ति। ऐसा महिमावंत आत्मस्वभाव है, उसमें उपयोग को लगाने से कर्म रुकते हैं और उपयोग को लगाकर विशेष शुद्धता करने से अशुद्धता छूट जाती है और कर्मों की निर्जरा हो जाती है। इसप्रकार निर्जरा में तीन प्रकार आये—(१) शुद्धता की वृद्धि, (२) अशुद्धता की हानि और (३) कर्मों की खिरना। प्रथम दोनों प्रकार भावनिर्जरारूप हैं; उनमें एक अस्तिरूप और दूसरा नास्तिरूप है। तीसरा प्रकार, वह द्रव्यनिर्जरारूप है, वह आत्मा से भिन्न जड़ में है।

ऐसी निर्जरा, वह मोक्ष का हेतु है। ऐसी निर्जरा संवरपूर्वक होती है और संवर भेदज्ञानपूर्वक होता है। जिसे भेदज्ञान नहीं है, जिसे शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं है, उसे संवर, निर्जरा या मोक्ष नहीं होता। जिसने द्रव्यकर्म से भिन्न आत्मा को नहीं जाना, उसने अशुद्धभावों से भिन्न आत्मस्वभाव को नहीं जाना है, इसलिये शुद्धता और अशुद्धता के बीच या स्व और पर के बीच भिन्नता का जिसे विवेक नहीं है, वह शुद्ध स्वभाव में कैसे एकाग्र होगा? और अशुद्धता को तथा कर्मों को कैसे टालेगा? उसका उपयोग तो बाह्य में—राग में और पर में ही भटकता रहेगा, इसलिये उसे संवर या निर्जरा नहीं होगी। स्वरूप में उपयोग की एकाग्रता द्वारा ही संवर होता है और फिर उस उपयोग की शुद्धता बढ़ने से निर्जरा होती है। इसप्रकार शुद्ध उपयोग ही संवर और निर्जरा का कारण है और संवर-निर्जरा, वह मोक्ष का कारण है।

'शुद्धोपयोग की वृद्धि, वह निर्जरा;'—आचार्यदेव ने कितनी अच्छी व्याख्या की है।

शुद्ध उपयोग में शुभ-अशुभ परिणाम का अभाव है, इसलिये शुभपरिणाम, वह वास्तव में निर्जरा का कारण नहीं है।

शुभ परिणाम में उपयोग लगाकर उसे जो लाभ का (संवर-निर्जरा का) कारण माने, उसका उपयोग तो राग में एकाग्रता से मलिन हो रहा है और वह तो आस्रव का ही कारण है। सम्यग्दृष्टि के परिणाम में राग होने पर भी उसका उपयोग राग से पृथक् हो गया है। इसलिये उपयोग में शुद्धता प्रगट हुई है; वह शुद्धता संवर-निर्जरा का कारण है; अथवा शुद्ध उपयोग वह स्वयं ही भावसंवर तथा भावनिर्जरा है। सम्यक्त्वी धर्मात्मा अन्तर्दृष्टि से जानता है कि मेरे अनंत गुणों में प्रतिक्षण विशुद्धता का कार्य हो ही रहा है, फिर मुझे दूसरों से क्या प्रयोजन ?

भाई, पहले तू अपने गुण को समझ तो सही ! निज गुणों के भंडार की पहिचान होते ही तेरी पराश्रयबुद्धि-विकारबुद्धि छूट जायेगी और स्वभाव का स्वाश्रित जीवन प्रगट होगा। चिदानंदस्वभाव ऐसा है कि उसका ठिकाना ढूँढ़ते हुए विकल्प थक जाते हैं, विकल्पों द्वारा वह ध्यान में नहीं आ सकता। विकल्प से दूर होकर उपयोग जब अंतरोन्मुख हो और अन्य चिंता छोड़कर वहाँ एकाग्र रहे, तब शुद्धोपयोगरूप ध्यान प्रगट होता है; ज्यों-ज्यों उपयोग एकाग्र होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी शुद्धता बढ़ती जाती है (अर्थात् चैतन्य का प्रतपन होता जाता है) वह भावनिर्जरा है; उसके द्वारा क्षणमात्र में अनंत कर्म फल दिये बिना खिर जाते हैं, वह द्रव्यनिर्जरा है। ऐसा निर्जरा का स्वरूप जो पहिचाने, उसी को यथार्थ तत्त्वश्रद्धा द्वारा सम्यग्ज्ञानी के मार्ग की प्रसिद्धि होती है।

निर्जरा में कोई क्लेश नहीं है परंतु अंतर-अनुभव में निर्विकल्प आनंद के झरने झरते हैं। निर्विकल्प उपयोग में उत्कृष्ट निर्जरा है; परंतु तदुपरांत भी सम्यग्दर्शन हुआ तभी से शुद्धता के बल से निर्जरा तो सतत होती ही रहती है। जितनी-जितनी शुद्धता बढ़ती जाती है, उतनी-उतनी निर्जरा होती जाती है। उनके अंतर में सम्यग्दर्शनरूपी दीपक द्वारा मार्ग की प्रसिद्धि हो गई है। ऐसे मार्ग की प्रसिद्धि बिना, शुभभाव द्वारा वास्तव में संवर और निर्जरा नहीं होती। चारित्र की सच्ची क्रिया कौन सी ? तो कहते हैं कि शुभाशुभ योग से निवर्तित होकर उपयोग निजस्वरूप में प्रवर्तन करे, वही चारित्र की क्रिया है और वही निर्जरा है। निर्जरा कहो, धर्म कहो या मोक्षमार्ग कहो, वह राग के अभावरूप है। सम्यग्दर्शनपूर्वक जितनी शुद्धता हुई, उतनी मार्ग की प्रसिद्धि है।

निर्जरा का मुख्य कारण ध्यान है... ध्यान कहो या एकाग्रता कहो... किसका ध्यान और किसकी एकाग्रता ? अपने शुद्धस्वरूप को जानकर उसका ध्यान और उसमें एकाग्रता, वह निर्जरा का कारण है। शुद्धस्वरूप में अविचलित चैतन्य परिणति, सो ध्यान है और वही मोक्षहेतु है। ऐसा ध्यान किसे होता है ? कि प्रथम तो जिसने स्व-पर को भिन्न जानकर हेय-उपादेय को जाना हो। उपादेय ऐसे निजस्वरूप को स्वानुभव से प्राप्त किया हो और उस निजस्वरूप की ही साधना में जिसका मन रम रहा हो—ऐसा मुमुक्षु गुणगुणीभेद से भी पार होकर अभेद आत्मपरिणति से अचलरूप से निजस्वरूप का संचेतन करता है—अनुभवन करता है, उसके ध्यान है और वह जीव रागादि की चीकट से अत्यंत रहित वर्तता हुआ पूर्वकाल में बँधी हुई कर्मरज को खिरा देता है। चैतन्य की शुद्धता में वृद्धि होने से कर्म खिर जाते हैं। ऐसे ध्यान में अशुभ और शुभ दोनों परिणाम का अभाव है। देखो, शुभराग के अभावरूप ध्यान को निर्जरा का कारण कहा है। शुभराग वह वास्तव में निर्जरा का नहीं परंतु शुभास्रव का कारण है। प्रथम तो जिसे आत्मप्रयोजन साधने की धुन जागृत हुई हो, उसकी बात है। अभी तुरंत ऐसी उग्र ध्यानदशा भले ही प्रगट न हो परंतु ऐसा ध्यान, वह निर्जरा का कारण है—ऐसा उसका स्वरूप बराबर पहिचाने तो सम्यक् तत्त्व निर्णय द्वारा मिथ्यात्वादि की तो निर्जरा हो जाये और सम्यग्ज्ञानरूप मार्ग प्रसिद्ध हो। ऐसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के पश्चात् चारित्रदशा में उत्कृष्ट निर्जरा की बात यहाँ ली है। सम्यग्दर्शन से पूर्व तो मोक्ष के हेतुरूप निर्जरा होती ही नहीं। निर्जरा, संवरपूर्वक ही होती है और संवर, आस्रव के निरोध द्वारा होता है। अनंत संसार के कारणरूप सबसे बड़ा जो मिथ्यात्व का आस्रव है, उसका निरोध सम्यग्दर्शन द्वारा ही होता है। जिसने मिथ्यात्वरूप महान आस्रव को नहीं रोका, उसको अन्य अव्रतादि के आस्रव भी नहीं रुकते, इसलिये उसे संवर-निर्जरा भी नहीं होती। इसलिये कहा है कि—प्रगट हो कि मिथ्यात्व ही आस्रव है और सम्यक्त्व वह संवर है। संसार का मूल मिथ्यात्व है और मोक्ष का मूल सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व के बल से ज्ञानी को क्षण-क्षण अनंत कर्मों की निर्जरा होती जाती है; परंतु अभी उसे किंचित् आस्रव भी होता है। जब शुद्धोपयोग प्रगट करके निर्विकल्परूप से निजस्वरूप को ध्याता है, तब आस्रव सर्वथा रुककर उत्कृष्ट निर्जरा होती है—ऐसा जानना। ●

वस्तुस्वरूप की मर्यादा

[समयसार-सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार के प्रवचन से]

(आश्विन मास)

जीव और अजीव दोनों के स्वरूप की भिन्न-भिन्न मर्यादा समझाकर आचार्यदेव कहते हैं कि—हे भाई! तेरा कोई गुण या दोष परद्रव्य में तो है नहीं; और परद्रव्य तुझे किसी गुण-दोष का दाता नहीं है; तो फिर उस पर राग-द्वेष क्या? और ज्ञान में भी राग-द्वेष कैसे? इसलिये पर से भिन्न निज गुणों को प्रतीति करके, सर्व गुण-सम्पन्न आत्म स्वभाव की ओर जो ढला, वह जीव अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्र की निर्मलता में ही तन्मयरूप से परिणमन करता हुआ, एवं राग-द्वेषादिभावों में किंचित्मात्र तन्मय न होता हुआ वह रगाादि को करता ही नहीं; और परद्रव्य तो कहीं राग-द्वेष कराता नहीं है... इसप्रकार भेदज्ञान के बल से राग-द्वेष निर्मूल होकर वीतरागता और केवलज्ञान होता है।

ज्ञान की समस्त परद्रव्यों से अत्यंत भिन्नता समझाकर आचार्यदेव कहते हैं कि भाई, तेरे ज्ञान-दर्शन-चारित्रभाव अचेतन पदार्थों में तो किंचित् ही नहीं है। यदि आत्मा अपराध करे तो उसके ज्ञानादि का घात होता है, परंतु उससे कहीं शरीर-वाणी आदि अचेतन का घात नहीं होता। अथवा आत्मा सम्यक्भाव द्वारा अपने ज्ञानादि गुणों को विकसित करे तो उससे कहीं अचेतन शरीरादि का विकास नहीं होता। कोई कहे कि—यदि झूठ बोलने में पाप हो तो झूठ बोलनेवाले की जीभ क्यों नहीं कट जाती? अरे भाई! झूठ बोलने के भाव का पाप जीव में हो और उसके फल में अजीव का (जिह्वा का) घात हो—ऐसा न्याय कहाँ से लाया? हाँ, आत्मा ने पापभाव किये तो उसके ज्ञानादि गुणों का घात हुआ; परंतु अपराध करे आत्मा और घात हो जिह्वा का - ऐसा न्याय नहीं है।

जीव का कोई गुण या दोष पर में नहीं है; और परद्रव्य जीव को कोई गुण-दोष उत्पन्न नहीं करता। शरीर के गुण-दोषों से जीव के गुण-दोष का माप नहीं होता। कोई अज्ञानी विपरीत भावों का सेवन करता हो, तथापि शरीर अच्छा रहता है और कोई ज्ञानी-धर्मात्मा अनेक गुण सम्पन्न हो, तथापि शरीर में रोगादि होते हैं; इसलिये उससे उसके गुणों में कोई बाधा

नहीं आती। आत्मा का एक भी गुण पर में नहीं है, तो फिर आत्मा के किसी गुण या दोष का फल पर में कैसे आयेगा ? भाई, जहाँ परद्रव्य तुझे तेरे गुण-दोष का दाता नहीं है, वहाँ उस पर राग-द्वेष कैसा ? ज्ञान में से राग-द्वेष नहीं आते, तथा अचेतन विषयों में भी राग-द्वेष नहीं हैं, परंतु अज्ञानी को जो अज्ञान-भाव है, वही राग-द्वेष का भंडार है। अज्ञान दूर हुआ और सम्यग्दर्शन प्रगट हुआ, वहाँ उस सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष का अभाव ही माना है, क्योंकि उसका जो ज्ञानभाव है, उसमें राग-द्वेष नहीं हैं।

जीव और अजीव इन दो वस्तुओं में यदि एकता हो अथवा आधार-आधेयपना हो तो उसमें से एक का घात होने पर दूसरे का भी घात हो जाना चाहिये। जिसप्रकार दीपक और प्रकाश दोनों को एक वस्तुपना है, इसलिये उनमें से एक का नाश होने पर दूसरे का भी नाश होता है; परंतु जिस घड़े में दीपक रखा हो, उस घड़े का नाश होने से कहीं दीपक का नाश नहीं हो जाता; क्योंकि उस घड़े को और दीपक को एक वस्तुपना नहीं है, परंतु भिन्नपना है। उसीप्रकार आत्मा चैतन्य दीपक और उसके ज्ञानादि प्रकाश—उन दोनों को एक वस्तुपना है, परंतु यह घट अर्थात् शरीर और भीतर विद्यमान ज्ञान दीपक (आत्मा) उन दोनों को एकवस्तुपना नहीं है, इसलिये शरीरादि पुद्गल का घात होने पर भी ज्ञानादि गुणों का घात नहीं हो जाता। इस प्रकार जीव के ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि जितने गुण हैं अथवा उन गुणों की जितनी पर्यायें हैं, वह कोई भी गुण या पर्याय परद्रव्य में नहीं है।

प्रश्न—राग-द्वेष किसके परिणाम हैं ?

उत्तर—राग-द्वेष अचेतन में नहीं हैं। राग-द्वेष तो जीव के ही अनन्य परिणाम हैं, परंतु किस जीव के ? तो कहते हैं अज्ञानी के; अज्ञानी ही राग-द्वेषभावों के साथ तन्मयरूप से परिणमित होता है, और ज्ञानी तो अपने गुणों को अपने में ही देखता हुआ, स्वाश्रयदृष्टि से ज्ञानादि गुणों को विकसित करता जाता है, इसलिये उसे रागादिभावों के साथ तन्मय नहीं है। गुण के विकास से उसके तो राग-द्वेष का घात होता जाता है।

तीन बातें हुईं:—

एक तो यह कि—जीव के ज्ञानादि गुण या रागादि दोष परद्रव्य में किंचित् भी नहीं हैं।

दूसरी यह कि—ज्ञानादि गुण या रागादि दोष जीव के अनन्य परिणाम हैं, परंतु ज्ञानी को अपने ज्ञानादि स्वभाव से भरपूर आत्मा के आश्रय से दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ही विकास होता

जाता है, उसमें रागादि दोषों का अभाव है, इसलिये ज्ञानी को रागादि नहीं हैं। कुछ है तो उसे ज्ञेयमात्र जानता है।

तीसरी बात यह कि—यदि ऐसा है तो रागादिभावों की उत्पत्ति का भंडार कौन-सा है? तो कहते हैं-जिसे अपने आत्मगुणों का लक्ष नहीं है, वह अज्ञानी ही अज्ञानभाव से राग-द्वेषादिभावों को उत्पन्न करता है और उनमें तन्मयरूप से वर्तता है। इसलिये उसका अज्ञान ही रागादिभावों का भंडार है। जहाँ अज्ञान नहीं है, वहाँ रागादि का कर्तृत्व नहीं है। इसप्रकार तीन बोलों में आचार्यदेव ने अद्‌भुत भेदज्ञान कराया है।

भाई, तेरे अनंतगुण तुझमें ही भरे हैं, वे तुझसे दूर नहीं हैं, यदि तू अपने गुणों से भरपूर स्वभाव की ओर दृष्टि न करे तो दोष तुझसे दूर नहीं हैं, अर्थात् तेरे दोष भी तुझमें ही (तेरी पर्याय में ही) होते हैं और तेरे गुण तुझमें ही भरे हैं। तुझसे बाहर तेरा कोई गुण या दोष नहीं है। वस्तुस्वरूप की ऐसी मर्यादा है। अपने गुण-दोष अपने में ही हैं और पर में नहीं हैं—ऐसा जो वास्तविकरूप से जान ले, वह स्वाश्रयभाव से गुणों को प्रगट करता है और दोषों को टालता है। इसका नाम धर्म है और वही मोक्ष का पंथ है।

स्वद्रव्य के आश्रय से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हुए, उनको अचेतन से अत्यंत भिन्नता है; क्योंकि अचेतन शरीरादि का घात होने पर भी उस रत्नत्रय गुण का घात नहीं होता। शरीर क्षीण है, इन्द्रियाँ शिथिल हों जायें, वृद्धावस्था आ जाये, रोगादि हों अथवा उसका छेदन-भेदन होकर टुकड़े हो जायें, तथापि धर्मात्मा के सम्यग्दर्शनादि गुणों का घात नहीं होता। यदि उन सम्यग्दर्शनादि की शरीर के साथ किंचित् भी एकता होती अथवा उसका जरा-सा भी आधार होता तो उस शरीर की शक्ति नष्ट होने से सम्यग्दर्शनादि का भी घात हो जाता; अथवा अज्ञानी के शरीर की पुष्टि होने से श्रद्धा-ज्ञान की भी पुष्टि होती; परंतु ऐसा कोई संबंध नहीं है। तू दोष करेगा तो अपने में, और गुण प्रगट करेगा तो वह भी अपने में... तेरे दोष या गुण पर में नहीं हैं। इसलिये परद्रव्य को अपने दोष-गुण का उत्पादक न देख। तेरा अंतरस्वभाव गुण का भंडार है, वही गुण प्रगट करने की खान है, उसमें अन्तर्दृष्टि करने से सम्यग्दर्शनादि गुण प्रगट होते हैं और अपने स्वभाव को भूलकर पर में या विकार में जो एकत्वबुद्धि करता है, उसे वह एकत्वबुद्धिरूप अज्ञान ही दोषों की उत्पत्ति का मूल है।

अहा, मेरे गुण का या दोष का पर के साथ कोई संबंध नहीं है... कितना वीतरागभाव!

अज्ञान के कारण अभी तक मैंने ही अपने सम्यक्त्वादिभावों का घात किया, किसी दूसरे ने नहीं; और अब भेदज्ञान द्वारा स्वाश्रय करके उन सम्यग्दर्शनादि भावों को उत्पन्न करनेवाला भी मैं ही हूँ, उसमें कोई अन्य सहायक नहीं है अथवा किसी दूसरे की शक्ति नहीं है कि उसका घात कर सके।—इसप्रकार स्वसत्ता में ही मेरा सर्वस्व है। ऐसा सम्यक्निर्णय करनेवाला जीव अपने शुद्ध द्रव्य को देखता है और रागादि अशुद्धभावों को एकत्वरूप से अपने में कभी नहीं करता। इसप्रकार शुद्धदृष्टि द्वारा वह धर्मात्मा राग-द्वेष का अत्यंत क्षय करते-करते शुद्ध चैतन्य-ज्योति से दैदीप्यमान हो उठता है।

जहाँ तेरे गुण विद्यमान हैं, वहाँ देख तो वे गुण, पर्याय में प्रगट होंगे। जहाँ तेरे गुणों का अस्तित्व नहीं है, वहाँ देखने से गुण प्रगट नहीं होते। जो परोन्मुखता से गुणों का प्रगट होना मानता है, उसे मिथ्यात्वादि दोष प्रगट होते हैं। इसलिये हे भाई! पराश्रय छोड़कर स्वाश्रय की ओर ढल, वही धर्म की कुंजी है। जो पर से अपने गुण-दोष मानता है, उसे पर के प्रति राग-द्वेष हुए बिना नहीं रहते, इसलिये उपशमभाव तो होता ही नहीं। धर्मात्मा तो यह जानकर अत्यंत उपशमभाव को प्राप्त होते हैं, पर के प्रति अत्यंत मध्यस्थ उदासीन होकर स्वद्रव्य का ही अवलंबन करते हैं। स्वावलंबी भाव ही वीतरागी उपशमभाव है, उसी में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग है।

मुनिदशा में निर्ग्रंथ शरीर होता है; वह शरीर तो अचेतन है और भावलिंग (रत्नत्रय) तो चेतन है। क्या अचेतन शरीर में से रत्नत्रयरूप भावलिंग आता है?—नहीं; यदि ऐसा हो, तब तो सिंह जब शरीर को खा जायेगा, तब साथ ही साथ रत्नत्रय का भी घात हो जायेगा; परंतु ऐसा नहीं है; उलटा जब सिंह शरीर को खा रहा हो, तब शरीर तो क्षीण होता जाता है और मुनि रत्नत्रय की उग्रता करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। इसप्रकार चेतनपर्याय की अचेतन से अत्यंत उदासीनता है, भिन्नता है। शरीर का उदाहरण दिया, उसीप्रकार राग के साथ भी जीव के गुणों (निर्मल पर्यायों) को आधार-आधेयपने का किंचित् मात्र संबंध नहीं है। राग की तो हानि होती है और गुणों की वृद्धि होती है। अज्ञानी तो मानों राग के आधार से धर्म होगा—ऐसा मानता है, शुभराग की वृद्धि से मानों मेरे गुणों की वृद्धि होगी—इसप्रकार उस राग में से अपने सम्यक्त्वादि गुणों का आना मानता है। परंतु भाई! राग में तो तेरा एक भी गुण नहीं है; तेरे गुणों की राग से अत्यन्त भिन्नता है—जैसी भिन्नता शरीर से है वैसी ही। जिसप्रकार शरीर के आधार

से गुण नहीं हैं, उसीप्रकार राग के आधार से भी गुण नहीं हैं। सम्यक्त्वादि प्रगट होने में राग का किंचित्मात्र भी अवलंबन नहीं है; एक चिदानंदस्वभावी शुद्ध द्रव्य का ही अवलंबन है।—इसप्रकार हे जीवो! तुम देखो! आचार्यदेव अपनी साक्षी से कहते हैं कि परद्रव्य इस आत्मा को गुण-दोष का किंचित् उत्पादक नहीं है—ऐसा हम तो देखते हैं... और हे जीवो! तुम भी सम्यक् प्रकार से ऐसा ही देखो... तथा उपशमभाव को प्राप्त करो!

शिवपुरी का पथिक

हे शिवपुरी के पथिक! अर्थात् मोक्ष के इच्छुक! प्रथम तो सम्यग्दर्शनादि भावों को जान। उन भावों से रहित अकेले द्रव्यलिंग से क्या सिद्धि है? कोई सिद्धि नहीं है। इसलिये सम्यग्दर्शनादि शुद्धभावों को ही मोक्ष का कारण जानकर उसकी प्राप्ति का उद्यम कर। मोक्षपुरी का पथ श्री जिनेन्द्रदेव ने प्रयत्न साध्य कहा है... इसलिये सर्व प्रयत्न को तू सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में लगा।

आचार्य भगवान प्रेम से मोक्षमार्ग का उत्साह जागृत करते हुए कहते हैं कि—हे सत् समझने की जिज्ञासावान सत्पुरुष! तू सुन! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रभाव ही मोक्ष का मार्ग है। उसे भूलकर तूने अभी तक मिथ्यात्वादि भावों का ही सेवन किया है। सम्यक्त्वादि भावों का तूने एक पल भी सेवन नहीं किया... इसलिये अब तो उसकी भावना कर।

रत्नत्रय-भावना तेरी नौका को शिवपुरी में पहुँचा देगी।

[—'रत्नसंग्रह' (गुजराती) से]

आनंद का दिवस

[भाद्रपद कृष्णा दूज के विशिष्ट आनंदकारी प्रवचन से चुने हुए इक्यावन मोती]

(१) आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप है; उसकी सम्यग्दर्शनादि परिणति तो संवर-निर्जरा-मोक्ष का ही कारण है।

(२) विकल्परूप जो व्यवहार है, वह वास्तव में आश्रय करनेयोग्य नहीं है, वह स्वयं पराश्रित है।

(३) निश्चय मोक्षमार्ग स्वाश्रित है, और उसी से बंधन का छेदन होता है।

(४) स्वाश्रित भाव को मोक्षमार्ग कहना, वह भूतार्थ मोक्षमार्ग है, सच्चा मोक्षमार्ग है।

(५) जो पराश्रितभाव हैं, वे अभूतार्थ हैं, वे सचमुच मोक्षमार्ग नहीं हैं।

(६) ज्ञानी धर्मात्मा स्व-पर को भिन्न जानकर स्वाश्रय से मोक्षमार्ग को साधता है।

(७) मोक्षमार्ग को पर का आश्रय किंचित् भी नहीं है, वह पर से अत्यंत निरपेक्ष है।

(८) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह तीनों रत्नत्रय अत्यंत स्वाश्रित हैं और पर से अत्यंत निरपेक्ष हैं। ऐसे रत्नत्रय वह धर्मी का कर्तव्य है।

(९) उस निर्मल रत्नत्रयपर्याय के षट्कारक आत्मा में ही हैं; आत्मा ही अपनी शक्ति से षट्कारकरूप होकर रत्नत्रयरूप परिणमित होता है।

(१०) अशुद्धता के भी षट्कारक आत्मा में हैं, परंतु वे क्षणिकपर्याय जितने भी हैं, उनका कर्तृत्व परमार्थतः धर्मी को नहीं है।

(११) दूसरी सूक्ष्म बात यहाँ यह है कि जो पराश्रित व्यवहार है, उस व्यवहार को भी निश्चय का कारकपना नहीं है, साधनपना भी नहीं है।

(१२) पर्याय में जो अभेद साधन-साध्य कहे जाते हैं, उनमें भी सजातीय साधन-साध्य हैं; साधन और साध्य एक जाति के हैं।

(१३) शुद्धता का साधन भी शुद्ध ही होता है। अशुद्धता साधन होकर शुद्धता को साधे—ऐसा वास्तव में नहीं बनता।

(१४) वास्तव में तो शुद्धरत्नत्रय पर्याय हुई, उसरूप परिणमित आत्मा ही उसका कर्ता है। पर्याय का भेद करके पूर्व पर्याय को (शुद्धपर्याय को) साधन कहना, उसमें भी भेदरूप

व्यवहार है; परंतु दोनों की जाति एक है, इसलिये अभेद साधन-साध्य कहे जाते हैं।

(१५) इसमें राग की या पर के साधन की तो बात कहाँ रही? अकेले स्वद्रव्य का अभेद अवलंबन ही साध्य की सिद्धि का उपाय है; वही साधन है, अन्य कोई भिन्न साधन मोक्ष को साधने के लिये नहीं है।

(१६) धर्मात्मा को स्वाश्रय से जितना रत्नत्रयभाव प्रगट हुआ, उतना शुद्ध साधन है।

(१७) धर्मात्मा अपने ही साधन द्वारा अंतर में अपना अवलोकन करता है।

(१८) शुद्धात्मा में प्रवृत्तिरूप जो चारित्र, वह निश्चय मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो उसके पेटे में समा ही गये हैं।

(१९) सम्यग्दर्शन के पश्चात् चैतन्य के आनंद में लीन हो जाना, वह मोक्षमार्ग है।—वहाँ ऐसा भी विकल्प नहीं है कि मैं आनंद में लीन होऊँ।

(२०) छट्ठे गुणस्थान में भी निश्चयसम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो वर्तता ही है; परंतु शुद्धोपयोगी चारित्र नहीं है; उस अपेक्षा से वहाँ अभी व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है; और जब निर्विकल्प शुद्धोपयोगी होकर परिणमित हो, तब रत्नत्रय की अभेदता मानकर वहाँ निश्चयमोक्षमार्ग कहा है।

(२१) निश्चयसम्यग्दर्शन का प्रारम्भ तो चौथे गुणस्थान से ही हो गया है; वहाँ कहीं अकेला व्यवहार नहीं है। अकेले व्यवहार से कहीं मोक्षमार्ग नहीं होता। निश्चय का अंश हो, वहीं मोक्षमार्ग प्रारम्भ होता है।

(२२) चैतन्यमूर्ति आत्मा सुख से भरपूर है; उसको सुख के अभाव का कारण स्वभाव का प्रतिघात है।

(२३) चैतन्य का स्वभाव जहाँ पूर्ण विकसित हो जाये, वहाँ पूर्ण सुख प्रगट हो जाता है।

(२४) चैतन्य में आनंद के अनुभव का जहाँ अभाव है, वहाँ उसे ज्ञान-दर्शन स्वभाव में प्रतिकूलता का सद्भाव है-आवरण है।

(२५) और जहाँ चैतन्य का आनंद निर्विघ्नरूप से विकसित हो उठता है, वहाँ सामने प्रतिकूलता का अभाव है—आवरण का नाश है।

(२६) ज्ञान-दर्शन-पर्यायरूप से आत्मा स्वयमेव परिणमित होता है, कहीं ज्ञेयों का अवलंबन लेकर वह परिणमित नहीं होता... फिर केवलज्ञान हो, मतिज्ञान हो या चक्षुदर्शन हो।

(२७) यहाँ तो ज्ञान-दर्शन स्वभाव का और सुख का अविनाभावीपना बतलाया। जो सर्व को जानता-देखता है, उसी को सम्पूर्ण सुख है।

(२८) जो सर्व को जानता-देखता नहीं है, उसे ज्ञान-दर्शन स्वभाव पूर्ण प्रगट नहीं है और न उसे पूर्णानंद का अनुभव है।

(२९) आत्मा का ज्ञानस्वभाव होने पर भी उसने पूर्ण क्यों नहीं जाना?—वह ऐसा सूचित करता है कि उसे कुछ प्रतिकूलता है।

(३०) वह प्रतिकूलता कहीं बाह्य की नहीं है, परंतु ज्ञान-दर्शन का उपयोग किसी ज्ञेय में अटक गया अर्थात् विषय प्रतिबद्धता हुई, वही प्रतिकूलता है, वही प्रतिबंध है।

(३१) ज्ञानस्वभाव में पूर्ण सामर्थ्य है और कार्य पूरा नहीं आता, तो वह ज्ञान कहीं जानने में अटका है और ज्ञान विषयों में अटका, वहाँ पूर्ण सुख भी नहीं है।

(३२) कारण जैसा हो वैसा ही कार्य होना चाहिये; न हो तो उसमें कुछ प्रतिबंध और दुःख है।

(३३) धर्मात्मा स्वाश्रय से पूर्ण स्वभाव की प्रतीति करके, अंतर में ढलते हुए पूर्णता को साधता जाता है और पराश्रयरूप प्रतिबंध को तोड़ता जाता है। ज्ञान-दर्शन को प्रतिबंध टूटने पर आनंद की पूर्णता होती है।

(३४) पहले अल्पज्ञदशा में भी धर्मी ने राग का और अल्पता का आश्रय छोड़कर पूर्ण अंश में स्वभाव के आश्रय से पूर्णता की प्रतीति की है।

(३५) धर्मात्मा के अंतर में चैतन्यसूर्य जगमगा उठा है।

(३६) अज्ञानी को अकेला दुःख है, परमात्मा को पूर्ण सुख है, और साधक धर्मात्मा को अमुक स्वाधीन अतीन्द्रिय सुख प्रगट हुआ है—और वे पूर्णता को साध रहे हैं।

(३७) देखो, सुख का कारण बाह्य विषय तो नहीं, परंतु ज्ञान का अंतर्मुखपरिणमन ही सुख का कारण है।

(३८) सम्यग्दृष्टि ने अपने परमेश्वरपद को अंतरंग में देखा है, और उसे पर्याय में प्रभुता प्रगट हुए बिना नहीं रहती।

(३९) अंतर में प्रभुता को देखा, और पर्याय में प्रभुता प्रगट न हो—ऐसा नहीं हो सकता।

(४०) आज का दिन प्रभुता प्रगट करने का दिन है। आज तो आनंद का दिन है। आज के दिन की विशेषता है.... (यहाँ स्वामीजी ने जो आनंद की बात की, उससे सभा में हर्ष का

वातावरण छा गया था।)

(४१) ज्ञानी को पुण्य की सामग्री में प्रीति नहीं है, और प्रतिकूल सामग्री में भय नहीं है। परद्रव्य अलग हैं और परभाव हेय हैं, ज्ञानी को उसमें रुचि नहीं है।

(४२) धर्मात्मा को ज्ञायकस्वभाव की लगन लगी है।

(४३) ज्ञानी को कदाचित् बाह्य में चक्रवर्ती-राज्य का संयोग हो और अज्ञानी को कदाचित् बाह्य में कुछ भी परिग्रह दिखायी न दे, तथापि अंतर में अज्ञानी को परिग्रह का प्रेम है और ज्ञानी को परिग्रह की प्रीति छूट गई है; क्योंकि उसमें स्वप्न में भी अपना भोक्तृत्व भासित नहीं होता, उसमें कहीं सुखबुद्धि नहीं है। भोक्तृत्व तो स्वभाव के आनंद का ही है।

(४४) ज्ञानी जानता है कि—आनंद का झरना मेरे आत्मा में बहता है; उस आनंद के झरने में कोई मलिनता नहीं है, परभाव नहीं है।

(४५) ज्ञानी-धर्मात्मा को देव-गुरु की अपूर्व पहिचान हुई है, इसलिये उसके भक्ति-विनय के भाव भी अपूर्व होते हैं; तथापि उसमें जो रागांश हैं, उस राग की महत्ता चैतन्य के समक्ष भासित नहीं होती।

(४६) भगवान आत्मा तो चैतन्यरस से भरपूर है, उसे चूसने पर (अनुभव करने पर) आनंद का स्वाद आता है।

(४७) धर्मात्मा विकार को नहीं चूसते, उसका स्वाद नहीं लेते, परंतु ज्ञान द्वारा चैतन्य के आनन्द-रस को ही चूसते हैं।

(४८) आनंद में और राग में कभी एकमेकता नहीं है। आनंद में और ज्ञान में एकमेकता है।

(४९) भगवान आत्मा आनंदमूर्ति है और राग तो आकुलता की मूर्ति है; फिर जिसने अंतर्मुख होकर आनंद का स्वाद लिया वह राग के स्वाद का भोक्ता कैसे होगा?

(५०) ज्ञानी को जिसप्रकार जगत की प्रतिकूलता का भय नहीं है, उसीप्रकार जगत की अनुकूलता की प्रीति भी नहीं है। जगत के पदार्थों के साथ जहाँ कर्ता भोक्तापने का अभाव है, वहाँ उसमें इष्ट-अनिष्टपना कहाँ रहा? और जहाँ इष्ट-अनिष्टपना नहीं है, वहाँ राग-द्वेष भी कहाँ रहे? इसलिये ज्ञानी को ज्ञान में राग-द्वेष का कर्तृत्व भी निकल गया है।

(५१) चैतन्यरस का रसपिण्ड तो आत्मा है। भगवान! तेरा स्वाद खीर में या रसगुल्लों में नहीं है, तेरा स्वाद और आनंद तो तेरे चैतन्य रस में भरा है। उस चैतन्य का लक्ष कराके ज्ञानी तुझे तेरे चैतन्य की खीर और चैतन्य के रसगुल्ले खिलाते हैं... उनका स्वाद ले। उसके स्वाद में अपूर्व आनंद है।

ऐसे आनंदानुभवी संतों को नमस्कार

जिनवचन को ग्रहण करके....

शुद्धरत्नत्रयरूप आत्मस्वभाव वह शील है; ऐसे शील की आराधना द्वारा सिद्धालय की प्राप्ति होती है। जो धीर महात्मा ऐसे शील के धारक हैं, उनका जन्म धन्य है! ऐसे शीलधर्म की प्राप्ति जिनवचन से होती है। भगवत्कुन्दकुन्दस्वामी शीलप्राभृत में कहते हैं कि:—

जिनवचनगृहीतसारा विषयविरक्ताः तपोधना धीरा।
शीलसलिलेन स्नाताः ते सिद्धालय सुखं यांति॥३८॥

जिनवचन द्वारा जिसने सार को ग्रहण किया है अर्थात् जिसने जिनवचन के सार को ग्रहण किया है—सार क्या है?—कि शुद्ध आत्मा अथवा शुद्धरत्नत्रय ही जिनवचन का सार है; ऐसा सार जिसने ग्रहण किया है और उसका ग्रहण करके विषयों से विरक्त हुए हैं, ऐसे धीर तपोधन–जो कि शीलरूपी पवित्र जल द्वारा स्नान करके विशुद्ध हुए हैं, वे सिद्धालय–सुख प्राप्त करते हैं।

देखो, यह जिनवचन के ग्रहण का फल! जिनवचन शुद्धात्मा का ग्रहण कराते हैं और विषयों से विरक्ति कराते हैं। स्वसन्मुख होकर जिसने श्रद्धा में, ज्ञान में और चारित्र में शुद्ध आत्मा का ग्रहण किया, उसने जिनवचन के सार का ग्रहण किया है। जिनवचन के ज्ञान बिना सत्य सार हाथ में नहीं आता। अपने निजस्वरूप की प्राप्ति, वह जिनवचन का सार है, वही शील, आराधना तथा मोक्षमार्ग है... उसके बिना सब निस्सार है। इसप्रकार जो जिनवचन का सार ग्रहण करता है, वह सिद्धालय के सुख को प्राप्त करता है। (—प्रवचन से)

कहानी ९ वीं

रानी चेलना का धर्म प्रेम

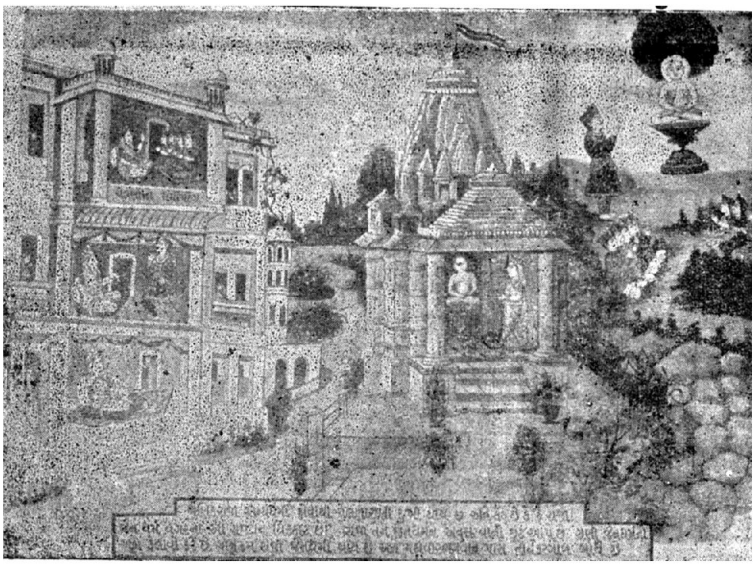

भगवान महावीर के समय में मगधदेश का महाराजा श्रेणिक था। चेटक राजा की सुपुत्री चेलना —जो कि त्रिशला माता की बहिन और महावीर की मौसी होती थी, के साथ राजा श्रेणिक ने विवाह किया, और चेलना मगधदेश की महारानी बनी; परंतु इसको वहाँ तनिक भी चैन नहीं मिलता था, क्योंकि श्रेणिक राजा तो दूसरे धर्म को मानता था, जैनधर्म के ऊपर उसका प्रेम न था। जैनधर्म के ऐश्वर्य के बीच पड़ी हुई इस चेलना को जैनधर्म के बिना राज्य में चैन कहाँ से मिले ? वह राजा को कहती है कि हे राजन्! जैनधर्म रहित इस राज्य को धिक्कार है! राजा उसे जैनधर्म के पालन करने की और जिनमंदिर बनवाने आदि की अनुमति प्रदान करता है। पश्चात् चेलना रानी परमजिन-भक्तिपूर्वक महान जिनालय बनवाती है, आनंद से पूजन-भक्ति करती है... और धीरे-धीरे राजा का हृदय परिवर्तन भी कर देती है। राजा भी अन्त में जैनधर्म का दृढ़ श्रद्धालु बन जाता है; और जब राजगृही में विपुलाचल पर महावीर का समवसरण होता है, तब भगवान के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त कर राजा श्रेणिक तीर्थंकर नामकर्म का बंध बाँधता है—और जैनधर्म के जय-जयकार से भारत गूँज उठता है—

जैनधर्म की जय हो।

कहानी १० वीं

सिंह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है

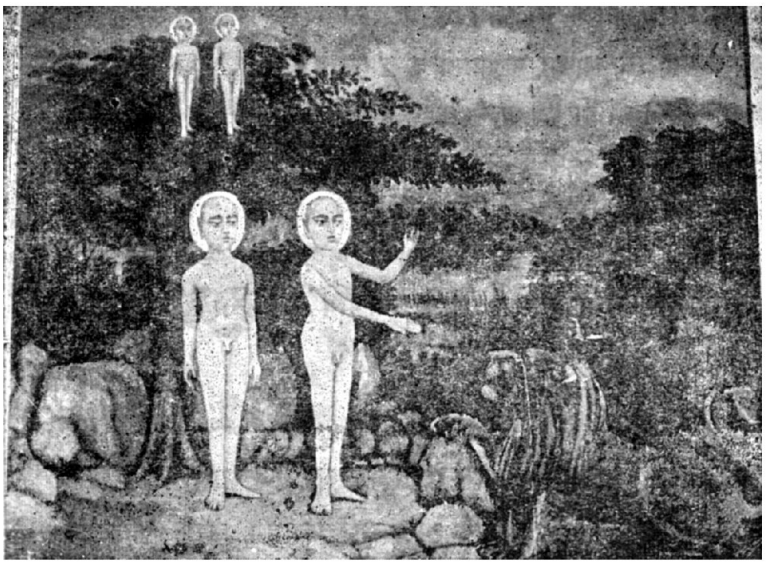

मुनिराज के संबोधन से वैराग्य प्राप्त सिंह की आँखों में से आँसुओं की धारा बहती है और वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। यह सिंह कौन है, खबर है? यह तो भगवान महावीर का जीव! इसके १० भव पूर्व का यह प्रसंग है। विदेहक्षेत्र की तीर्थंकर की वाणी से मुनियों ने जाना कि सिंह का यह जीव १० वें भव में तीर्थंकर होगा।

इधर यह वनराजा तो एक हिरन को फाड़कर खा रहा था; तभी ऊपर से दो मुनिवर उतरे... और सिंह के सामने आकर खड़े हो गये। सिंह तो आश्चर्य से देखता ही रह गया। मुनियों ने उसे संबोधित करके कहा; अरे सिंह! अरे, आत्मा! तुझे यह शोभा नहीं देता; १० वें भव में तो तू त्रिलोकनाथ तीर्थंकर होनेवाला है। अरे! जगत को वीतरागी अहिंसा का संदेश देनेवाला तू ऐसी हिंसा में पड़ा है! छोड़ रे छोड़ यह हिंसा के भाव... जाग... जाग। यह सुनते ही सिंह को पूर्वभव का ज्ञान होता है, पश्चाताप से मिथ्यात्व पिघलकर आसुओं के रूप में बाहर निकल जाता है, और वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। बहुमान और भक्ति से मुनियों की प्रदक्षिणा करता है... और बाद में अनुक्रम से आत्म साधना में आगे बढ़कर तीर्थंकर महावीर होता है।

अहा! सिंह की सम्यक्त्व प्राप्ति का यह प्रसंग कितना अद्भुत है।

वस्तुस्वरूप की प्रसिद्धि

भाई, इस काल में आयु थोड़ी और बुद्धि भी थोड़ी है, इसलिये उसे इधर-उधर निष्प्रयोजन बातों में न गँवाकर ऐसा वस्तुस्वरूप जान कि जिससे तेरे जन्म-मरण का अंत आये। जगत से दूर होकर आत्म-प्रयोजन साधने में अपनी बुद्धि लगा। अहा, इस जगत में अनुभूति करनेयोग्य चिदानंद प्रभु आत्मा ही है। ज्ञानी कहते हैं कि इस जगत में कोई द्रव्य अन्य द्रव्य के परिणाम को उत्पन्न करता हो—ऐसा हमें तो दिखायी नहीं देता, क्योंकि हम वस्तुस्वरूप को देखनेवाले हैं। अज्ञानी को भ्रमदृष्टि से एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप होता दिखायी देता है; वह कहीं वस्तुस्वरूप नहीं है। अरे जीव! उस भ्रमणा को छोड़ और वस्तुस्वरूप को जान। जड़-चेतन का अत्यंत भिन्न वस्तुस्वरूप प्रसिद्ध करके आचार्य भगवंतों ने जगत का उपकार किया है।

[समयसार-सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार प्रवचन से—आश्विन मास]

आत्मा जब ज्ञानभाव और रागभाव का भेदज्ञान करता है, तब वह ज्ञानभाव के साथ ही तन्मयरूप से परिणमित होता हुआ ज्ञानभाव का ही कर्ता होता है। रागादि के साथ किंचित्मात्र तन्मयरूप नहीं वर्तता हुआ, वह रागादि का कर्ता नहीं होता। जिसे ऐसा भेदज्ञान नहीं है, वह अज्ञानी, ज्ञान के साथ राग को भी एकमेक करता हुआ स्वयमेव अज्ञानभाव से रागादि का कर्ता होता है, परंतु कहीं परद्रव्य उसे रागादि नहीं कराते। अहा, ऐसी स्पष्ट बात करके आचार्यदेव कहते हैं कि तत्त्वदृष्टि से देखते हुए राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित् दिखायी नहीं देता; परद्रव्य आत्मा के भाव में कुछ भी करे, ऐसा वस्तुस्वरूप में तो हमें जरा भी दिखायी नहीं देता। वस्तु के स्वरूप का उल्लंघन करके कोई अज्ञानी परद्रव्य को राग-द्वेष करानेवाला मानता है तो माने, परंतु वस्तुस्वरूप तो ऐसा नहीं है। वस्तुस्वरूप में तो सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वरूप से ही होती हुई अंतरंग में अत्यंत प्रगट प्रकाशमान है। बाह्य दृश्टि से देखनेवाले को ही कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्ता प्रतिभासित होता है, अंतरंगदृष्टि से देखनेवाले को तो ऐसा जरा भी दिखायी नहीं देता।

ऐसे वस्तुस्वरूप को आचार्यदेव गाथा ३७२ में स्पष्टरूप से प्रगट करते हैं:—

को द्रव्य दूसरे द्रव्य में उत्पाद नहिं गुण का करे।
इस हेतु से सब ही दरब उत्पन्न आप स्वभाव से॥३७२॥

किसी द्रव्य में ऐसी योग्यता ही नहीं है कि दूसरे द्रव्य के गुण को या पर्याय को उत्पन्न कर दे। सर्व द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायरूप से अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये जीव को परद्रव्य रागादिक उपजाते हैं—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये।

विकार के समय कर्म निमित्तरूप भले हो, परंतु उस कर्म में ऐसी योग्यता नहीं है कि जीव के रागादिक उत्पन्न करे।

मिट्टी जब घड़े के रूप में उत्पन्न होती है, तब वह स्वयं अपने मिट्टी-स्वभाव से ही घड़े की उत्पत्ति करती है, कुम्हार चाहे जैसा होशियार हो, तथापि उसमें ऐसी योग्यता नहीं है कि अपने किसी गुण-पर्याय को मिट्टी में मिलाकर उस घड़े को उत्पन्न करे।

घड़ारूप से कौन उत्पन्न हो ?—मिट्टी स्वयं।

कुम्हार ने उसमें क्या किया ? —कुछ नहीं।

रागरूप से कौन उत्पन्न हुआ ? — जीव स्वयं।

जड़कर्म ने उसमें क्या किया ? — कुछ नहीं।

क्योंकि कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य के कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता—ऐसी वस्तुस्थिति जगत में प्रसिद्ध है। वस्तुस्थिति को जाननेवाले ऐसे हमें तो ज्ञानचक्षु से किसी द्रव्य के परिणाम अन्य द्रव्य के स्वभावरूप उत्पन्न होते दिखायी नहीं देते; तो तू दूसरी बात कहाँ से लाया ?

देखो भाई, इस काल में आयु थोड़ी और बुद्धि भी थोड़ी है, इसलिये उसे इधर-उधर निष्प्रयोजन बातों में न गँवाकर ऐसा वस्तुस्वरूप जानना आवश्यक है कि जिससे जन्म-मरण का अन्त आये। अरे, जगत के कार्य का बोझ मेरे ऊपर नहीं है और मेरा आत्मकार्य जगत में किसी अन्य के आधीन नहीं है। मेरा आत्मकार्य मेरे हाथ में ही है। इसप्रकार जगत से पृथक् होकर, आत्मप्रयोजन को साधने में अपनी बुद्धि लगा। ऐसा तत्त्वज्ञान कर कि जिससे भेदज्ञान प्रगट हो और भव का अन्त आ जाये। शास्त्र तो अगाध हैं और वर्तमान में जीव की बुद्धि थोड़ी है, इसलिये भले ही थोड़ी जानकारी हो, परंतु ऐसी प्रयोजनभूत जानकारी होना चाहिये कि जिससे आत्मा का कल्याण हो। दूसरा इधर-उधर का जानने में लगा रहे और आत्महित के लिये प्रयोजनभूत अध्यात्मतत्त्व को न जाने तो कल्याण नहीं होगा।

द्रव्य स्वयं अपने स्वपरिणाम से ही उत्पन्न होता है, अन्य द्रव्य उसे उत्पन्न नहीं करते;—वस्तुस्वरूप का यह सिद्धांत सभी द्रव्यों को लागू होता है। जगत में एक भी द्रव्य ऐसा अपवादरूप नहीं है कि जो अन्य द्रव्य के स्वभावरूप से उत्पन्न होता हो। शुद्धभावरूप या अशुद्धभावरूप अपने परिणाम से जीव स्वयं ही स्वयमेव उत्पन्न होता है, उसमें उसके छहों कारक स्वतंत्र हैं, अन्य द्रव्यों का उसमें किंचित् भी हाथ नहीं है। यदि पुद्गलकर्म जीव को रागादिक उत्पन्न करता हो तो वे पुद्गल ही जीव के परिणाम के साथ तन्मय हो जायें; क्योंकि जो जिसको उत्पन्न करे, वह उससे पृथक् नहीं होता। जिसप्रकार मिट्टी घड़े को उत्पन्न करती है, इसलिए मिट्टी उस घड़े से पृथक् नहीं है; परंतु कुम्हार घड़े को उत्पन्न नहीं करता, इसलिये वह कुम्हार मिट्टीमय नहीं किंतु मिट्टी से भिन्न है। मिट्टी का घड़ा कुम्हार के शरीराकार उत्पन्न नहीं होता परंतु मिट्टी के ही आकार से उत्पन्न होता है। घड़ा फूट जाये तो उससे कहीं कुम्हार के शरीर में टूट-फूट नहीं होती, और कुम्हार में कुछ हो तो उससे कहीं घड़ा नहीं फूटता; —इसप्रकार कुम्हार में और घड़े में भिन्नता है; वे दोनों भिन्न-भिन्न अपने-अपने स्वभावरूप से उत्पन्न होते हैं, दूसरे के स्वभावरूप कोई उत्पन्न नहीं होता, इसलिये आत्मा और पुद्गल दोनों अपने-अपने परिणाम-स्वभावरूप से भिन्न-भिन्न ही उत्पन्न होते हैं। आत्मा, पुद्गल परिणाम को या पुद्गल, जीव परिणाम को उत्पन्न नहीं करते। आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! परद्रव्य तो तुझे रागादिक का उत्पादक नहीं है, तो उस पर कोप कैसा? जो परद्रव्य को राग-द्वेष का उत्पादक मानता है, उसके क्रोधादिभाव कभी मिट नहीं सकते, अज्ञान मिट नहीं सकता। वस्तुस्वरूप को जाने तो सम्यग्ज्ञान हो और अज्ञान टले; और अज्ञान टलने पर ज्ञान स्वरूप से ही परिणमित आत्मा, रागादि का अकर्ता होता है।

आत्मा रागपरिणाम करता है, वहाँ पुद्गलकर्म निमित्त है; परंतु वहाँ वह आत्मा क्या निमित्तकर्मरूप से उत्पन्न होता है?—नहीं; कर्म से भिन्न ऐसे अपने रागरूप ही वह उत्पन्न होता है, कर्मरूप से उत्पन्न नहीं होता। यदि वह कर्म के स्वभावरूप से उत्पन्न होता हो तो आत्मा जड़ हो जाये। जगत में जो कार्य उत्पन्न होता है, वह उसके उत्पादक के आकाररूप (स्वरूप) होता है। ज्ञानी का कार्य ज्ञानाकार उत्पन्न होता है, अज्ञानी का कार्य अज्ञानाकार और जड़ का कार्य जड़ाकाररूप उत्पन्न होता है। ज्ञानी कहते हैं कि—जगत में कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य के स्वरूप से उत्पन्न होता हो, अथवा दूसरा द्रव्य पहले द्रव्य को अपने स्वरूप से उत्पन्न करता हो, ऐसा हमें

तो दिखायी नहीं देता, क्योंकि हम वस्तुस्वरूप को देखनेवाले हैं। जो भ्रमदृष्टि से देखते हैं, उन्हीं को एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप होता दिखायी देता है; वह कहीं वस्तुस्वरूप नहीं है परंतु मात्र अज्ञानी का दृष्टिभ्रम है। भाई, वह भ्रम छोड़कर वस्तुस्वरूप को देख तो तुझे अपने शुद्धतत्त्व की अनुभूति होगी और परम अकर्तृत्व प्रगट होगा।

अहो, जगत में अनुभूति करने योग्य चिदानंद प्रभु आत्मा ही है; उसकी अनुभूति से ही सम्यग्दर्शनादि होते हैं, उसकी अनुभूति ही मोक्षमार्ग है। अनुभव को मोक्षस्वरूप, चिंतामणि रत्न कहा है। अनुभूति से बाह्य ऐसे जो रागादि परभाव, वे यद्यपि जीव की ही पर्याय में है, परंतु वे भाव, मोक्ष के हेतुभूत नहीं है; तथा उन भावों को कर्म ने भी उत्पन्न नहीं किया है। इसप्रकार ज्ञानभाव, विकारभाव और जड़भाव—तीनों का पृथक्करण करके जो वस्तुस्वरूप को जानता है, वह ज्ञान से अन्यभावों का अकर्ता होकर ज्ञानभावरूप से ही उत्पन्न होता है—ऐसा ज्ञानभाव, वह मोक्ष का कारण है।

कोई कहे कि कर्म राग-द्वेष नहीं कराता—ऐसा कहकर आप निमित्त को उड़ाते हैं ?—तो वह इस बात को समझा ही नहीं है। भाई, कर्म निमित्त हो तो क्या वह जीव के रागादि परिणामरूप से उत्पन्न हुआ है ? जीव के रागादि परिणामरूप से कौन उत्पन्न हुआ है ?—जीव स्वयं उत्पन्न हुआ है या कर्म ? यदि जीव स्वयं ही उत्पन्न हुआ तो कर्म ने उसमें क्या किया ? यदि निमित्तभूत कर्म, जीव के रागादिभावरूप से उत्पन्न होता हो, तब तो निमित्त कर्म स्वयं ही जीव हो गया, इसलिये उस मान्यता में निमित्त का लोप हुआ, और जीव-अजीव, चेतन-जड़, उपादान-निमित्त सब एकमेक हो गया; वस्तुस्वरूप ही कुछ नहीं रहा, उपादान-निमित्त कहीं पृथक् नहीं रहे। इसलिये एक द्रव्य अन्य द्रव्य के परिणाम में कुछ करे, उसे उत्पन्न करे या बिगाड़े—ऐसी मान्यता वस्तुस्वरूप से विरुद्ध होने के कारण मिथ्या है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का किसी प्रकार उत्पादक है ही नहीं, स्वतंत्ररूप से ही सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामरूप से उत्पन्न होते हैं—ऐसा वस्तुस्वरूप जानने से सम्यग्ज्ञान एवं वीतरागता होती है, इसलिये ऐसा वस्तुस्वरूप प्रसिद्ध हो और अज्ञान का लोप हो !

अचिंत्य महिमावंत आत्म शक्ति

[समयसार की ४७ शक्तियों पर स्वामीजी का भावभीना प्रवचन हुआ था उसका कुछ सार यहाँ प्रस्तुत किया जाता है]

(३७) सर्वांग-आनंद

चैतन्य में एक उत्तम-शुद्ध परिणति प्रगट करने से आत्मा का समस्त परिवार आनंदित हो जाता है। जैसे कुटुंब में एक उत्तम पुत्र का अवतार होने पर समस्त परिवार को खुशी होती है, उसीप्रकार आत्मा में एक आनंदगुण की उत्तम परिणति का अवतार होने पर अनंतगुणों का समस्त परिवार आनंदमय हो जाता है। अनंतगुण से अभेदरूप वस्तु है, उसका प्रत्येक गुण सर्व गुणों में (समस्त द्रव्य में) व्यापक है। सुखगुण, दु:ख में व्यापक नहीं है। दु:ख तो वास्तव में सुखशक्ति का कार्य नहीं है, यह तो वास्तव में आत्मा ही नहीं है। आत्मा तो सुखशक्ति का पिण्ड है, यह तो सुख का वेदन करता है-दु:ख का वेदन कैसे करे ?

(३८) द्विगुण अपराध

प्रभु कहते हैं कि मैं परमेश्वर होकर कहता हूँ कि परमेश्वरत्व आत्मा में है, इसलिये तू तेरे परमेश्वर पद को देख ! अपने परमेश्वर पद को भूलकर जो विकार जितना ही अपने को मानता है, वह अपराधी है। यह अपराध स्वयं करते हुए यह कहे कि कर्मों ने मेरे विकार कराये, वह दुगुना अपराधी है। अपना अपराध दूसरों पर लगावे तो वह अपराध कैसे दूर करेगा ?

(३९) प्रभु के प्रताप को कौन भूल सकता है ?

चैतन्य की प्रभुता इतनी महान है कि इसके प्रताप को सम्यग्दृष्टि ही झेल सकता है। अज्ञानी की दृष्टि इतनी निर्बल है कि इस चैतन्य की प्रभुता के तेज को नहीं सह सकता। अहा ! इस अचिंत्य प्रभुता का जगत में कोई मुकाबला नहीं है। मैं इस प्रभुता का पिंड ही हूँ—ऐसी प्रतीति सम्यग्दृष्टि को होती है, वही चैतन्य प्रभु के प्रताप को झेल सकता है। राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह चैतन्य प्रभु के प्रताप को झेल सके। अहा ! संतों ने इस प्रभुता को प्रकट कर जगत को बताई है। जब १००० वर्ष पूर्व अमृतचंद्र स्वामी मुनिदशा में झूलते-झूलते इस प्रभुता को प्रसिद्ध करते होंगे और भरतक्षेत्र में विचरण करते होंगे, तब मानों सिद्ध भगवान ऊपर से उतरे होंगे।

(४०) सिद्ध प्रभुजी!... दिल में आवें...!

प्रारंभ में ही आत्मा के आंगन में सिद्ध प्रभु को विराजमान कर इस समयसार की रचना की गई है। हमारे और श्रोताओं के आत्मा में सिद्ध प्रभु प्रविष्ट किये गये हैं। जहाँ सिद्ध प्रभु को बैठाया है, वहाँ राग कैसे रह सकता है ? इसलिए लक्ष्य में से राग को निकाल डालो और सिद्ध जैसे स्वभाव को लक्ष्य में लो। श्रोताओं ने भी आदरपूर्वक आचार्यदेव की कथनी को स्वीकार किया है। भाई! यदि तेरे आँगन में सिद्ध भगवान को लाना है तो आँगन को तदनुरूप कर, क्योंकि वे (सिद्ध भगवान) रागयुक्त आँगन में नहीं रहते। चिदानंदस्वभाव को लक्ष्य में कर अपने आँगन को इतना विशाल कर कि सिद्ध भगवान जैसी शक्ति मेरे में ही है, ऐसा तू मान, इस स्वभाव का उल्लास कर ज्ञान का रागरहित प्रकाश बनाकर उसमें तेरे अंतर में अनंत सिद्ध भगवान को पधरा। जो ज्ञान अनंत सिद्धों को स्वीकार कर परिणमता है, वह ज्ञान सिद्धदशा की तरफ परिणमता है। जिस श्रद्धा ने अनंत सिद्धों को स्वीकार किया है, वह श्रद्धा भी सिद्धपद की तरफ परिणमती है। सिद्धपद को अपने में स्थापने से आत्मा जाग उठती है, अब जब सिद्धपद का अवसर आवेगा, तब तुरंत वह चैतन्य में लीन होकर सिद्धपद प्रकट करेगा, ऐसा श्रद्धा और ज्ञान में निश्चय कर लिया है।

(४१) आत्मा जागृत हो जाती है—

अहा! सिद्धपद की यह बात सुनते ही आत्मा जाग उठती है। अरे! आठ वर्ष की बालिका भी जाग सकती है। आचार्यदेव ने समयसार का प्रारंभ ही अलौकिक प्रकार से किया है। अरे, सिद्धपद को याद कर तू इस समयसार को सुन। राग को भूल जा... संसार को भूल जा...! आत्मा में सिद्धपद स्थापित कर सिद्धि के मार्ग में आ जा। जो सिद्ध को आत्मा में स्थापित कर उसकी साधना के लिए निकलता है, उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं रहती। जो सिद्ध को अंतर में रखकर और सिद्धपद में न होनेवाले भाव को अंतरंग से दूर करे, वह साधक निर्विघ्नरूप से सिद्धपद को साधेगा।

(४२) जैसी शक्ति उसकी वैसी ही व्यक्ति

सर्वज्ञता कहो या मोक्ष, उसका कर्ता कौन है ? सर्वज्ञत्व शक्तिवाला आत्मा ही उस सर्वज्ञता का कर्ता है। वह शक्ति विकार की कर्ता नहीं है, न वास्तव में अल्पज्ञता की कर्ता है। सर्वज्ञता की व्यक्ति ही सर्वज्ञत्व शक्ति का वास्तविक कार्य है। शक्ति का कार्य उससे विरुद्ध

नहीं होता। पूर्ण पर्यायरूप व्यक्ति का कारण वह शक्ति ही है, अथवा शक्ति का साथी अभेदरूप आत्मा ही उसका कर्ता है, उस सर्वज्ञतारूप कार्य करने के कारक भी आत्मा में ही हैं। प्रत्येक शक्ति में छहों कारकों की स्वाधीनता है।

(४३) ज्ञानस्वभाव

सामने लोकालोक हैं, इसलिये सर्वज्ञता है–ऐसा नहीं है। सर्वज्ञता अपने से है और वह आत्मज्ञानमयी है। आत्मसन्मुख होने पर वह लोकालोक को जानता है। सर्वज्ञस्वभाव आत्मा के ज्ञान में सर्वज्ञता खिल जाती है, आत्मसन्मुखता से सर्वज्ञता खिलती है, किंतु परसन्मुखता से नहीं खिलती है। ज्ञान में ऐसे दो भाग नहीं हैं कि एक भाग स्व को जाने और दूसरा भाग पर को जाने। पर और स्व दोनों को जाननेवाला ज्ञान एक ही है। एक ही ज्ञान की ऐसी सामर्थ्य प्रकट हो गई है कि वह स्वसन्मुख होकर स्व और पर समस्त को जानता है। ज्ञान स्व में तन्मय रहकर स्व और पर को जानता है। किंतु वह पर को जानते हुए पररूप नहीं होता। पर का ज्ञान, पर नहीं है क्योंकि ज्ञान तो स्व ही है। इसका निर्णय कर स्वसन्मुख परिणमन से ज्ञान का विकास सर्वज्ञतारूप प्रकट हो जाता है।

(४३) आत्मा का वास्तविक कार्य सर्वज्ञता और वीतरागता

आत्मा के ज्ञानस्वभाव का निर्णय कर ज्ञान जब अपने में ही रहा, तब उस ज्ञान में रागादि कहाँ है ? ज्ञान के ज्ञान में रहने से वीतरागता होती है, जब वीतरागता हो गई, तब अन्य भाव किस कार्य के लिये रहें ? लोगों को राग के कार्य दिखते हैं किंतु अज्ञानी वीतरागता के कार्य नहीं जानता। भाई ! आत्मा के हितार्थ करनेयोग्य सर्वज्ञता और वीतरागता है। ये दोनों ही आत्मा के कर्तव्य हैं। शास्त्रों में चैतन्य में सर्वज्ञता और वीतरागता प्रकट करने की रीति बताई है। चैतन्य शक्ति की कोई मर्यादा व सीमा नहीं है।

(४४) आश्चर्यजनक अनंत शक्ति

प्रत्येक शक्ति आश्चर्यजनक अचिंत्य सामर्थ्य से परिपूर्ण है और ऐसी अनंत शक्तियाँ आत्मा में हैं। उन समस्त अनंत शक्तियों की गिनती नहीं हो सकती, वचन से बताई भी नहीं जा सकती। कोई मनुष्य या देव असंख्य वर्षों पर्यंत उन्हें क्रमशः गिने तो गिनती पूरी नहीं हो। विकल्पों के द्वारा उनका विचार नहीं किया जा सकता। किंतु जब अंतर्मुख होकर अभेद आत्मा का स्वानुभव करे तो स्वानुभव में अनंतों शक्तियों का एक साथ समावेश हो जाता है। अनंत

शक्तियाँ एक रस होकर एक क्षण में अनुभव में आ जाती हैं। गिनने से न गिनी जा सके किंतु अनुभव में आ जावे, ऐसी अनंतशक्ति का पिंडरूप यह आत्मा है।

(४५) एक समय में पूर्ण निधान

चैतन्यशक्ति में सर्वज्ञता-वीतरागता-आनंद-प्रभुता आदि का खजाना भरा हुआ है, अंतर्मुख अवलोकन से वह खजाना प्रकट होता है। इसके प्रकटाने के लिये किसी दूसरे का सहारा नहीं लेना पड़ता। जिसमें विकल्प या इन्द्रियों का अवलंबन न लेना पड़े और स्वाश्रय से एक समय में अपना कार्य पूरा करे, ऐसी सामर्थ्य आत्मा की प्रत्येक शक्ति में है। अन्य का अवलंबन लिये बिना एक समय में पूर्ण जाने, ऐसी स्वयंभू सर्वज्ञता में रागकर्तृत्व नहीं है और राग-द्वेष भी नहीं है। मोक्षार्थी को सर्वज्ञता और वीतरागता ही प्रकट करना है। जो खजाना अपने में है, उसे ही प्रकट करना है, कहीं बाहर से नहीं लाना है।

(४६) सर्वज्ञता के निर्णय करने का भाव सर्वज्ञ की जाति का ही है। शुद्धपर्याय का साधक बनकर शुद्ध द्रव्य साधा जाता है।

सर्वज्ञता का निर्णय स्वसन्मुख होने का उद्यम है। राग से भिन्न होकर ज्ञान की तरफ प्रवृत्त होना ही सर्वज्ञता की प्रतीति करना है। सर्वज्ञता की प्रतीति ज्ञानरूप होने से होती है, न कि रागरूप होने से। सर्वज्ञता की प्रतीति करानेवाला भाव सर्वज्ञता की जाति का ही होता है, उससे विरुद्ध जाति का नहीं होता। अतः शुद्धात्मा का अनुभव शुद्धभाव द्वारा ही होता है, अशुद्धता द्वारा शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता। इसप्रकार निर्मल पर्याय साधक है और शुद्ध द्रव्य साध्य है। अनुभव में साध्य-साधन दोनों अभेद हैं। राग द्वारा शुद्धात्मा नहीं सधती। शुद्ध पर्याय शुद्ध द्रव्य में तन्मय होती है। राग में यह शक्ति नहीं है कि वह शुद्धद्रव्य में तन्मय हो।

(४७) अद्‌भुत चैतन्य रस को जाननेवाला सर्वत्र पुत्र है।

अहो! यह अद्‌भुत चैतन्य रस! चैतन्य में ऐसी अद्‌भुतता है कि भिन्न-भिन्न लक्षणवाली अनंत शक्तियाँ उसमें एक साथ रहती हैं और वे सब शक्तियाँ शुद्धात्मा को लक्षित कराती हैं। लक्षण द्वारा लक्ष्यरूप शुद्धात्मा को लक्ष्य में लेना ही सम्यक् पुरुषार्थ है। जिसने परमात्मस्वभाव को प्रतीति में लिया, वह सर्वज्ञ का पुत्र हुआ। गणधरदेव को सर्वज्ञ पुत्र कहा जाता है, उसीप्रकार सभी सम्यग्दृष्टि, जिनेश्वर के लघुनंदन हैं।

(४८) साध्य और साधन दोनों एक जाति के होते हैं।

विभाव और स्वभाव के साधन-साध्यपना नहीं होता। अरूपी चैतन्यस्वभाव विकार और पर को वास्तव में स्पर्शता ही नहीं है। अत: वह अस्पर्शी है। चैतन्य के गृह में विकल्प का प्रवेश नहीं है। चैतन्य के गृह में जाने के लिये तदनुरूप पर्याय होनी चाहिये। भले ही इस पर्याय का काल एक समय का है किन्तु उसकी जाति चैतन्यस्वभाव की है। विकारमयी साधन से शुद्धात्मा साध्य नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों की जाति भिन्न है। यदि विकार साधन हो तो साध्य बंधन होगा और निर्मल पर्याय साधन हो तो शुद्धात्मा साध्य होगा। इन दोनों की जाति एक ही है।

(४९) द्रव्य-गुण-पर्याय में क्षेत्र भेद नहीं है।

आत्मद्रव्य के प्रत्येक गुण और उसकी प्रत्येक पर्याय का क्षेत्र एक ही है, क्षेत्र में कुछ भी भेद नहीं है। द्रव्य और उसके गुण काल की अपेक्षा अनादि-अनंत है और पर्याय एक समयवर्ती है, इतना भेद है, किन्तु निर्मल पर्याय तो अपने एक समय में भी स्वभाव के साथ अभेदरूप परिणमती है।

(५०) प्रत्यक्ष स्वसंवेदन ही मोक्ष की राह है।

आत्मा में स्वयं प्रकाशमान स्पष्ट स्वसंवेदनमय शक्ति है अर्थात् आत्मा के स्वभाव का स्वसंवेदन स्वयं अपने से (राग, विकल्प और इन्द्रियों के बिना) अत्यंत स्पष्ट प्रकाशित होता है। इस आत्मस्वभाव का माहात्म्य आवे, तभी उसमें तल्लीनता होवे और तब मोक्ष की राह प्रकटे। मोक्ष या सुख का मार्ग प्रकट करने का स्थान अपने आत्मा में ही है, आत्मा का संवेदन राग द्वारा नहीं होता। इन्द्रियजनित परोक्ष ज्ञान द्वारा भी आत्मा का संवेदन नहीं होता। आत्मा का संवेदन तो अपने से ही स्पष्ट होता है। देखो! यह स्व-संवेदन तो धर्म और मोक्षमार्ग है और प्रत्येक आत्मा में स्वसंवेदन करने की शक्ति है। शास्त्रों में भी कहा है कि 'स्वानुभूत्या चकासते'। आत्मा अपनी अनुभूति द्वारा ही प्रकाशमान होता है, अनुभव में आता है। राग के प्रकाशन द्वारा चैतन्य का प्रकाशन नहीं होता। चैतन्य का प्रकाशन उसकी अपनी निर्मल परिणति द्वारा होता है। बहिर्मुखी परिणति द्वारा चैतन्य का प्रकाशन नहीं होता। अहो! 'स्वानुभूति' से ही आत्मा का प्रकाशन बताया तो उसमें व्यवहार का अवलंबन कैसे आया? अरे! तू अपनी स्वानुभूति में अन्न या पानी, मन या वाणी या विकल्प को नहीं देखता। इन सबसे अलग अपने आत्मा से ही अपना स्वानुभव हो सकता है और यही मोक्ष का मार्ग है।

(५१) चारों गतियों में

स्वानुभूति की शक्ति आत्मा की चारों गतियों में है किंतु जो इसके सन्मुख हो, उसी के इसका व्यक्तिकरण होता है। नरक की घोर प्रतिकूलता में पड़ा हुआ कोई-कोई जीव-जहाँ हजारों लाखों वर्षों से अन्न का दाना, पानी की बूँद नहीं मिलती, जहाँ छेदन, भेदन, ठंडी, गर्मी आदि अनेक तीव्र यातनाओं का पार नहीं है—भी अंतरस्वभाव में उतरकर स्वयं अपने से अपने स्वभाव का स्पष्ट स्वसंवेदन कर सम्यक्त्व प्रकाश प्रकट करता है। ऐसा स्वसंवेदन करनेवाले असंख्यात जीव नरक में भी हैं। नरक की प्रतिकूलता की तुलना में यहाँ की मंहगाई आदि की प्रतिकूलता क्या है ? वहाँ की प्रतिकूलता की यहाँ कल्पना करना भी कठिन है। जब वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है तो यहाँ क्यों नहीं हो। यदि जागृत होकर अंतरंग में देखो तो जरूर पावो।

(५२) आत्मा की पुष्टि करनेवाला स्वानुभवरूपी उत्तम माल

अपना प्रत्यक्ष स्वानुभव करने के लिये राग का अवलंबन लेना आत्मा का स्वभाव नहीं है किंतु राग से निरपेक्ष रहकर ज्ञान द्वारा अपना स्पष्ट स्वसंवेदन करे, ऐसी आत्मा की शक्ति है। आत्मा में परोक्ष एवं अस्पृष्ट के लिये स्थान नहीं है, आत्मा अंतस्तल-स्वभाव में उतरकर परोक्ष का पर्दा तोड़ देता है और आत्मा प्रकट हो जाता है। स्वयं स्वयं को प्रत्यक्ष करे, ऐसी स्वानुभव की शक्ति आत्मा में है। देखो, यह तो स्वानुभव का अचिंत्य-माल है। सम्यग्दृष्टि इस स्वानुभव की खुराक द्वारा आत्मा को पुष्ट करता है और स्वानुभव में विकार का वेदन नहीं है। इसमें पर का अवलंबन नहीं है, यह तो स्वयं प्रकाशमान है और स्पष्ट है। चैतन्य को देखने में आँख का आधार नहीं है, इसके अनुभव में मन का अवलंबन नहीं है। ज्ञान पर्याय अंतरंग में प्रवृत्त होकर सीधी ज्ञातास्वभाव का अवलंबन लेती है, इसमें आत्मा का स्पष्ट प्रत्यक्ष स्वसंवेदन होता है। यह अन्य सबसे निरपेक्ष है। यह निरपेक्ष अनुभव मार्ग है और यही मोक्षमार्ग है और यही आत्म शक्ति की पुष्टि करनेवाला खरा माल है।

(५३) गिनती में गिना न जावे किंतु अनुभव में आवे

आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं, वे सब शक्तियाँ वचन द्वारा नहीं कही जा सकती, ये सब शक्तियाँ विकल्पों में नहीं आती। स्वानुभूति में सब शक्तियों का वेदन समा जाता है। गणना में नहीं आवे किंतु अनुभवगम्य अनंतगुण आत्मा में हैं।

(५४) स्वानुभव निष्कलंक है, राग कलंक है, स्वभाव से विरुद्ध भाव द्वारा उसका वेदन नहीं हो सकता

गुण-गुणी के भेद के विकल्प में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह चैतन्यस्वभाव को प्रत्यक्ष अनुभव कर सके। अरे! रागरहित चैतन्य भगवान को राग द्वारा स्वानुभव में आना बताना, उनके कलंक लगाने तुल्य है। राग के कलंकरहित निष्कलंक चैतन्यस्वभाव राग की कालिमा द्वारा कैसे अनुभव में आवे? कलंकरहित आत्मा कलंक में कैसे समाविष्ट हो। यह कलंक भी भगवान आत्मा के निष्कलंक स्वभाव में कैसे प्रविष्ट हो? नहीं होगा। राग या विकल्प द्वारा चैतन्यस्वभाव में प्रवेश नहीं है। स्वभाव का संवेदन करनेवाला जो भाव है, वह स्वभाव की जाति का है। जबकि राग, स्वभाव से विरुद्ध जाति का है। स्वभाव की जाति के सम्यक्भाव द्वारा ही स्वभाव का वेदन होता है। स्वभाव से विरुद्ध भाव द्वारा स्वभाव का वेदन नहीं होता। राग तो रंक है और स्वभाव महान महिमावान वीर है। ऐसे गरीब, कमजोर राग द्वारा महान महिमावान स्वभाव अनुभव में नहीं आता। इस महिमावान मोटे स्वभाव में तुच्छ एवं रंक राग का प्रवेश नहीं होता। वीरता में कायरता कैसे हो? उसीप्रकार चैतन्य की वीरता में राग की कायरता कैसे हो?

धर्मात्मा को चैतन्य का जो रंग चढ़ा है, वह उतरता नहीं है, वह तो केवलज्ञान की प्राप्ति पर ही छूटता है।

एक समय की पर्याय अनंतगुण के समस्त पिंड को अपने वेदन-ज्ञान में ले लेता है, ऐसी इसकी अचिंत्य अद्भुत शक्ति है।

(५५) कर्ता-कर्मपना नहीं है अपितु ज्ञाता ज्ञेयत्व है।

पर के द्रव्य-गुण-पर्याय में कुछ भी करने की आत्मा की सामर्थ्य नहीं है। किंतु उनको जानने की सामर्थ्य है। इसप्रकार आत्मा में पर का कर्तृत्व नहीं, अपितु ज्ञातृत्व है।

परद्रव्य अपने द्रव्य-गुण-पर्याय के कारण है किंतु वह इस आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय के कारण नहीं है और आत्मा उनके द्रव्य-गुण-पर्याय का कारण नहीं है। यह बात अकार्य-अकारणत्व शक्ति को बताती है।

अकार्य-अकारणपना होते हुए भी परस्पर ज्ञाता-ज्ञेयपना है अर्थात् आत्मा परद्रव्यों को ज्ञेयरूप जानता है, उसके सम्मुख ज्ञाता जीवों के ज्ञान में अपने से प्रमेयरूप जानता है, ऐसी ज्ञाता ज्ञेयपने की शक्ति आत्मा में है।

प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपने आकार के द्रव्य-गुण-पर्याय का ही कारण है, वह न अन्य का कारण है और न अन्य उसका कारण है।

कर्म के रजकण कर्म के द्रव्य-गुण-पर्याय के कारण हैं किंतु जीव के द्रव्य-गुण-पर्याय के कारण नहीं हैं। वे जीव के प्रमेय हैं और जीव उनका ज्ञाता है। जीव, शरीर की क्रिया का ज्ञाता है किंतु जीव उसका कारण नहीं है। जीव ने शरीर की क्रिया में क्या किया ? कुछ नहीं किया, वह तो उसे मात्र जानता है।

(५६) स्वसंवेदन में मोक्षमार्ग का सम्यक् पुरुषार्थ

आत्मा में क्रम और अक्रम दोनों स्वभाव एक साथ हैं; ऐसे आत्मा को स्वसंवेदन में लेने से मोक्षमार्ग होता है, वही पुरुषार्थ है।

एक श्रुतपर्याय में स्वसंवेदन से अनंत शक्तिवाले आत्मा के निर्णय करने की शक्ति है। आत्मा कैसा है ? उसमें अनंत गुण अक्रमरूप हैं, किंतु पर्याय अक्रमरूप नहीं होती, वह क्रमशः होती है। जब ऐसे क्रम-अक्रम स्वभाव से एकरूप आत्मा को स्वसंवेदन में ली, तभी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ स्वाश्रय में शुरु हुआ।

सर्वज्ञ के ज्ञान और पदार्थ के होनहार का निर्णय करनेवाले सम्यग्ज्ञान में पर का अकर्तापना है, उसमें मात्र ज्ञान भाव ही है। मात्र ज्ञातृत्व भाव रहे और विकार का कर्तृत्व भाव न रहे, यही सम्यक् उद्यम है। वीर्य शक्ति भी इस ज्ञानपर्याय को बनाती है, यही इसका वास्तविक कार्य है। द्रव्य की वृत्ति और भवितव्य द्रव्य का अस्तित्व उत्पाद, व्यय, ध्रुवरूप है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप अस्तित्व में क्रम और अक्रम दोनों भाव आ जाते हैं। इसका निर्णय करनेवाले सम्यग्ज्ञान में शुद्धात्मा का सद्भाव है और उसमें विकार का अभाव है। इस साधकदशा में भी ज्ञान है, जो कि निश्चय का अवलंबन करनेवाला है और रागादि व्यवहार से भिन्न है। इसका राग ज्ञेयरूप है किंतु वह कार्यरूप नहीं है।

(५७) निर्विकल्पता कैसे हो ?

क्रम-अक्रमरूप अनेकान्तमय वस्तुस्वरूप को जाननेवाला ज्ञान स्वयं भी अनेकांतमय है। ऐसे वस्तुस्वरूप का निर्णय करना निर्विकल्पता का कारण है। यदि यथार्थ आत्मस्वरूप को निर्णय में लें तो विकल्प छूट कर निर्विकल्प अनुभव हुए बिना रहता नहीं। अहो ! तेरे अचिंत्य स्वभाव में विकार नहीं है, ऐसे स्वभाव का निर्णय करनेवाला और स्वसन्मुख होनेवाला ज्ञान

राग से भिन्न हो जाता है। इसलिए तू स्वभाव का निर्णय करे तो तुझे निर्विकल्प अनुभूति का परम आनंद होगा।

(५८) आकाश की अपेक्षा महान

आकाश की अनंतता की सामर्थ्य कितनी अपार है !! इसकी अपेक्षा अनंतगुणी सामर्थ्य आत्मा के प्रत्येक शक्ति में है। और ऐसी अनंत शक्तियाँ आत्मा में हैं। इन शक्तियों में निश्चय -व्यवहार का स्पष्टीकरण हो जाता है। शक्ति की निर्मल परिणति का प्रकट होना निश्चय है और उसमें अशुद्धतारूप व्यवहार का अभाव है अथवा यदि शक्ति को निश्चय कहो तो उसकी निर्मल परिणति शुद्ध व्यवहार है। आत्मा की शक्ति और उसकी परिणति की सामर्थ्य इतनी महान है कि वह अपार आकाश को भी अपने में ज्ञेयरूप समा लेता है। इसप्रकार भाव सामर्थ्य से आत्मा आकाश की अपेक्षा भी महान है।

(५९) उपादान ध्रुव और क्षणिक दोनों स्वभाववाला है

उपादान में ध्रुवत्व और क्षणिकत्व दोनों हैं, दोनों ही वस्तु हैं। गुण की अपेक्षा ध्रुवत्व है और पर्याय की अपेक्षा क्षणिकत्व है। इसप्रकार ध्रुवत्व और क्षणिकत्व दोनों उपादान में आ जाते हैं और उसमें निमित्त भी यथायोग्य होता है।

(६०) अनेकांत

इसप्रकार वस्तु की शक्तियों के निर्णय में (१) निश्चय-व्यवहार, (२) उपादान-निमित्त, (३) क्रम पर्याय और अक्रम गुणों और अनेकांत का निर्णय भी हो जाता है और ऐसा निर्णय होने का पर ज्ञान, श्रद्धा आदि गुण अपनी वास्तविक (निर्मल) परिणतिरूप परिणमते हैं। वही अनेकांतस्वरूप आत्मा का खरा परिणमन है।

(६१) शक्ति का कार्य शक्ति की जाति का हो, चैतन्य चक्रवर्ती की परिणति विकारी नहीं होती।

अज्ञानी के अकेला विकार परिणमन है, विकार को वास्तविक शक्ति का कार्य नहीं कहा जा सकता। शक्ति का कार्य उसकी जाति का ही हो, उससे विरुद्ध कैसे हो ? शक्ति के आश्रय से निर्मलता परिणमे, वही शक्ति का कार्य कहलाता है। जैसे चक्रवर्ती की पटराणी दूसरों के पास भिक्षा नहीं मांगती, उसीप्रकार चैतन्य चक्रवर्ती भी निर्मल परिणतिरूपी पटराणी ऐसी नहीं होती कि वह पराश्रय कर विकारी हो। अरे ! तेरे गुण-पर्याय की सच्ची स्थिति का भी तुझे भान नहीं होता, यह तेरा कैसा भ्रम जाल है ?

(६२) विकल्प का अवकाश नहीं... धर्मात्मा को प्रतिबंध नहीं

ज्ञानस्वरूप में विकल्प नहीं है। 'मैं अपने में स्थिर रहूँ' ऐसे विकल्पवाले ज्ञान स्वरूप में अवकाश कहाँ है ? वीतराग परिणति में कोई विकल्प नहीं है। 'मैं स्थिर रहूँ' इस विकल्प द्वारा भी यह परिणति नहीं होती। तो फिर अन्य विकल्प की क्या बात ? चारों ओर से प्रतिकूलता के पहाड़ टूट पड़ते हों तो वे मेरे से कैसे सहन हो, ऐसे विकल्प का धर्मी की निर्मल परिणति में अवकाश नहीं है। स्वभाव का अवलंबन करनेवाले धर्मात्मा की निर्मल परिणति के विकास को रोकनेवाला तीन लोक और तीन काल में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है। इसप्रकार धर्मात्मा के काल और क्षेत्र का प्रतिबंध नहीं है। इसकी शक्ति तो स्वाश्रय से प्रकट होती रहती है। *(क्रमशः)*

परिणामों से ही बंध व मोक्ष होता है

प्राचीन आचार्यदेव श्री योगीन्द्रदेव ने योगसार दोहा-गाथा १४ में कहा है कि परिणामों से ही कर्म का बंध भगवान ने कहा है। तैसे ही परिणामों से ही मोक्ष होता है, ऐसा जान, हे आत्मन्! ऐसा समझकर तू उन भावों की पहिचान कर।

विशेषार्थ—राग-द्वेष-मोह भाव बंध ही के कारण हैं। ज्ञानियों को यह भले प्रकार समझना चाहिये; मुनिव्रत या श्रावक के व्रत का शुभराग तप और भक्ति का राग, पठन पाठन का राग, पंच परमेष्ठी के मंत्रों के जप का राग, यह सब राग बंध का ही कारण है। [शरीर की क्रिया बंध-मोक्ष का कारण नहीं है, वह तो निमित्तमात्र है।]

मोक्ष का कारणरूप भाव एक वीतरागभाव=शुद्धोपयोगरूप निश्चयरत्नत्रय है। शुद्धात्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्मा का ध्यान सम्यक्चारित्र है। यह रत्नत्रय एक देश हो (आंशिक हो) तो भी बंध का कारण नहीं है।

[योगसार टीका सूरत से प्रकाशित, पृष्ठ ७०]

'प्रयोजन, तात्पर्य यह है कि शुभ या अशुभ दोनों ही भाव अशुद्ध हैं, बंध ही के कारण हैं, मोक्ष का कारण एक शुद्धभाव-वीतरागभाव, शुद्धात्माभिमुख भाव है, ऐसा श्रद्धान ज्ञानी को रखना चाहिये।' (योगसार टीका, पृष्ठ ७१)

— हितोपदेशक कथा —

सच्चा सेवक किसे कहना ?

शोभावती नगर में महाराजा सूरसेन जो विद्वान भी था! उसकी राजसभा में एक दिन ज्ञानसभा भरी गई, किसी ने काव्य, किसी ने श्लोक सुनाये। पश्चात् एक विदेशी पंडितजी ने सुंदर बोधप्रद कथा कही, जिसे सुनकर सारी सभा जैसे मुरली के नाद से नाग डोलता है, वैसे डोलने, झूमने लगी, सब खुश हुए। राजा तुरंत गहरे विचार में मग्न हो गया और प्रश्न किया कि आप सब संयोग और संयोगीभाव की बातें लोगों के रंजनार्थ कर रहे हैं किंतु सच्चा सेवक किसे कहा जाय ? अनुभव प्रमाण से कहिये।

सभाजनों ने अपनी बुद्धि अनुसार वर्णन किया, किंतु राजा को संतोष नहीं हुआ। राजा ने १५ दिन की मर्यादा देकर कहा कि विचार करके जवाब देना।

अब १५वें दिन जो अंतिम दिन था, एक अति वृद्ध पंडितजी थे, वे सभा में राजा के सन्मुख आये, दिन होने पर भी उनके हाथ में जगमगाता हुआ लालटेन (दीपक) था। पंण्डितजी ने राजा से प्रश्न किया कि इस लालटेन में सबसे मुख्य चीज़ क्या है ?

महाराज — प्रकाश (ज्योति)

पंडितजी — कैसे ?

राजा — अंधेरे में प्रकाश करना उसी का काम है कारण कि यदि, उसमें ज्योति (प्रकाश) न हो तो लालटेन क्या काम की ? अत: इस ज्योति को मैं मुख्य और महत्व की वस्तु समझता हूँ। पंडितजी ने कहा, क्षमा कीजिये महाराज! आपका कहना बराबर नहीं है।

इसमें ज्योति के सिवा दूसरी एक मुख्य वस्तु है। राजा ने कहा—तो वह चीज़ रुई की बत्ती होगी, वो न हो तो ज्योति कहाँ से प्रगट हो सकती है ? तब वृद्ध ने नकार में मस्तक हिलाया, पश्चात् राजा ने लालटेन के सब अंग-उपांग सूचित किये, फिर भी वृद्ध ने इंकार ही किया। राजा ने निवेदन किया कि मेरी समझ में नहीं आता, आप ही फरमाइये कि मूलभूत प्रयोजनभूत चीज़ किसे समझना चाहिये ?

पंडित — राजन्! तेल ही मूलभूत और मुख्य है, फिर भी वह अपनी विशेषता का जरा भी विज्ञापन न करते हुए ढिंढोरा न पीटकर, गुप्त रहकर शांति से अपना कार्य पूर्णतया करता ही

रहता है, भले ही लोग उसे कुछ भी गिनती में न लें। स्वयं प्रकाशमय होकर अंधकार को दूर रखता है, बस वही गुण और स्वभाव सच्चे सेवक का भी है। कारण कि—वो अपने प्रशस्त कार्य का जरा भी विज्ञापन करता नहीं कि - मैंने ऐसा किया; मैं मुख्य हूँ। बस वह तो गुपचुप अपना कर्तव्य पूर्ण करने में ही सच्चा संतोषमय रहता है।

राजा एवं प्रजाजन! न तो अपनी आवश्यकताओं के लिये किसी की आशा करना चाहिये, न तो हाय! हाय! करना चाहिये, तेल का दृष्टांत याद रखिये, बस। अपने कर्तव्यमाल की असली बात सुनकर राजा और सब प्रजाजन खुश हुए और राजा ने यह निवेदन किया कि हम आज से ही ऐसी अनुभूति में रहें कि —हम हमारी कर्तव्यमाल में मशगुल हैं तो किसी से अपना दिखावा करने की जरूरत नहीं है ? मालिक बनना ही दु:ख है, सेवक बनना सुख है! अपने को संतोष है तो दूसरों को कर्तव्य बताना, मानना, मनाना, कराने का जो कष्ट वह न होगा, सुख ही होगा। इतना कहकर राजा सिंहासन से खड़े होकर वृद्ध पंडितजी से गले-गले मिले, अपूर्व प्रेम से प्रशंसाा की, धन्य! पंडितजी... एक बालक भी समझ सके ऐसी सरल भाषा में आपने ऐसी स्पष्ट बात समझा दी और सबके समक्ष आपने अपनी अनुभूतिपूर्ण बात प्रत्यक्ष रीति से सिद्ध करके दिखाई, आपके समाधन द्वारा मैं बहुत खुश हुआ हूँ, आप इस ज्ञानसभा के ही नहीं, किंतु सारे समाज के रत्न हो! फिर भी मैं एक विशेष बात नम्रता से कहूँगा कि तेल और प्रकाश तो पुद्गल की अवस्था है तो उसके स्वतंत्र कारण कार्यवश होते ही हैं किंतु उसे जाननेवाला चेतन, भेदविज्ञानी जीव न हो तो उसे कौन जानता ? अत: सबमें जाननहार विवेकवान जीव (आत्मा) ही मुख्य है। तब सारी सभा ने एक साथ राजा के प्रति परम हर्ष प्रगट किया।

सार संग्राहक — ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन

चर्चा और प्रवचनों में से

[मंगसर मास]

चमत्कारी चैतन्य हीरा

यह चैतन्य हीरा ज्ञानप्रकाश से चमकता, अनंत गुणों की निर्मल किरणों से जगमगाता है। इन चैतन्य में भरे हुए अपार चमत्कार की जगत को खबर नहीं है। अहा, चैतन्य हीरा... जिसमें एकाग्र होने पर एक क्षण में केवलज्ञान की अचिंत्य विभूति प्रकट हो जाती है। अरे जीव! ऐसा चमत्कारी चैतन्यहीरा तुझमें है, उसे प्राप्त करने का अति दुर्लभ सुअवसर तुझे मिला है तो काल का एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट किये बिना अपने चैतन्य हीरे को देख। इस चैतन्य हीरे के सामने जगत में अन्य किसी की महत्ता नहीं है।

संत ही जानते हैं

आत्मस्वरूप की अचिंत्य महिमा आत्मानुभवी संत ही जानते हैं। उनके अंतर के निर्विकल्प ध्यान में वह आत्मा आनंदसहित स्फुरायमान होती है। ऐसी ही आत्मा उपादेय है। वही ज्ञान में-श्रद्धा में-अनुभव में ग्रहण करने लायक है। अपने ऐसे परमात्मतत्त्व को संत ही जानते हैं।

चैतन्य में विकल्प का प्रवेश नहीं होता

विकल्प द्वारा निर्विकल्प-चैतन्य का अनुभव मिलेगा, ऐसा जो मानता है, वह विकल्प और निर्विकल्प तत्त्व, दोनों को एक मानता है, उसे विकल्प का ही अनुभव रहेगा, परंतु विकल्प से पार ऐसे निर्विकल्प चैतन्य का अनुभव उसे नहीं होता। विकल्प को जो साधन माने, वह विकल्प का अवलंबन छोड़कर दूर नहीं जाता। अतएव विकल्प से पार ऐसा चैतन्यतत्त्व उसके अनुभव में नहीं आता। भाई! चैतन्यतत्त्व और विकल्प - इन दोनों की जाति ही अलग है। चैतन्य में से विकल्प की उत्पत्ति नहीं होती, और विकल्प का प्रवेश चैतन्य में नहीं होता। इसप्रकार अत्यंत भिन्नता को गहराई से गंभीररूप से विचार कर तू चैतन्य की ही भावना में तत्पर रह।

चैतन्य में जैसे-जैसे निकटता होती जाती है, उसी-उसीप्रकार विकल्प शांत होते जाते हैं। चैतन्य में लीन होने पर विकल्प गायब हो जाते हैं। इसप्रकार चैतन्य में विकल्प नहीं है, ऐसे

भिन्न चैतन्य का तू तीव्र लगन लगाकर ध्यान कर।

स्वरूप की बात

हे जीव! शुद्धात्मा के अनुभव की जिन बातों को संत महिमापूर्वक कहते हैं, वे तेरे स्वरूप की ही बातें हैं, अन्य की बातें नहीं हैं। अपने स्वरूप का रसिक प्रेमी होकर तू अनुभव के हेतु अभ्यास कर। ऐसा करने से तुझे अपने स्वरूप के आनंद का अनुभव होगा। अपना स्वरूप अपने को ही अप्राप्त क्यों हो? जो जगत के अन्य झंझटों को छोड़कर, एक आत्मा का ही अर्थी होकर निरंतर अंतरंग का अभ्यास करे तो तुझे अपना स्वरूप स्पष्ट अनुभव में आएगा... जिसके अनुभव से तेरा जीवन सभी प्रकार से उज्ज्वल और आनंदमय बन जायेगा।

स्वानुभूति का सुख

अनादि काल से स्वरूप को भूलकर सम्यग्दर्शन बिना संसार में चक्कर खाता हुआ जीव समस्त परभावों को बार-बार भोग चुका है, संसार संबंधी समस्त दु:ख-सुख को यह भोग चुका है। अपने स्वरूप का वासतविक सुख एक क्षण भी उसने भोगा नहीं है... कि जिस सुख के सामने जगत के समस्त इन्द्रियसुख नीरस हैं। इन्द्रियसुखों से आत्मिक सुख की जाति ही अलग है—जैसे कि इन्द्रियां और आत्मा जुदा-जुदा है, उसी तरह। हे जीव! ज्ञानस्वभाव के अवलंबन से सम्यग्दर्शन का प्रयत्न कर स्वानुभूति में अपने इस सुख का भोग कर।

सुख का ज्ञान और सुख का वेदन

केवलज्ञानी भगवान पूर्ण अतीन्द्रिय सुखरूप हुए हैं और ऐसा ही सुख अनंत काल तक रहेगा। आगामी काल के समय-समय के परिणमन से जो सुख होगा, वह केवलज्ञान ने अभी जान लिया है; फिर भी समय-समय पर नये-नये सुख का भोग होता है। क्योंकि भावि परिणाम का सुख तो जब वह प्रकट होगा, तभी अनुभव में आएगा। सभी परिणामों के सुख का ज्ञान एक साथ हो गया है, परंतु सुख का भोग तो एक-एक समय के परिणाम का भिन्न-भिन्न है। समस्त काल के परिणाम का सुख एक ही साथ अनुभव में नहीं आता, परंतु ज्ञान में एक ही साथ आ जाता है।

मोक्षमार्ग में विहार कर

शुद्ध आत्मा के आश्रय में जो निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वही मोक्षमार्ग हैं,

ऐसा मोक्षमार्ग बताकर आचार्य भव्य जीवों को संबोधित करते हैं कि हे भव्य! ऐसे मोक्षमार्ग में तू अपनी आत्मा का स्थापन कर; उसी का ध्यान और अनुभव कर, और उसी में तू विहार कर। इसके सिवाय अन्य (मार्ग) में विहार न कर।

जहाँ एकता वहाँ लीनता

जिसमें जिसको एकत्वबुद्धि होती है, उसमें वह अपने को स्थापित करता है; अनादि से लेकर अज्ञानी ने परभाव में एकत्वबुद्धि से, 'यह मेरा, यह मैं'—इस तरह परभाव में और परद्रव्य में ही अपने को रोक रखा था। अब कहते हैं कि उससे भेदज्ञान द्वारा अपनी आत्मा को अलग कर, और स्वद्रव्य के आश्रय को ही मोक्षमार्ग जानकर उसमें ही आत्मा को लगा।

चैतन्य का बहाव

हे जीव! भूल तैंने की है, और उस भूल को सुधारने की सामर्थ्य भी तेरे में ही भरी है। अनादि से भूल हुई है, अतएव वह भूल सुधर नहीं सकती, ऐसा नहीं है। एक क्षण के सम्यग्ज्ञान द्वारा वह अनादि की भूल तत्क्षण नष्ट हो जाती है-तुझसे यह हो सकता है, इसलिये आचार्य कहते हैं कि हे जीव! अपनी प्रज्ञा के गुण द्वारा ही अपनी आत्मा को राग-द्वेष आदि परभावों से हटा और रत्नत्रय में निश्चलरूप से जोड़। अपने चैतन्य के प्रवाह को विकार में न ले जा। अपने चैतन्य प्रवाह को अपने स्वभाव में ही ले जा—यह मोक्ष प्राप्त करने की कला है।

जन्म-मरण के द्वारा समस्त संसार में घूमे हुए इस जीव को सब कुछ सुलभ है परंतु एक यथार्थ ज्ञान महादुर्लभ है, उस ज्ञान की प्राप्ति होने का सुअवसर आये, तब उसकी प्राप्ति, रक्षा और वृद्धि के लिये जीव को कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये, सबसे दुर्लभ ऐसे अमूल्य 'बोध' की प्राप्ति का यह अवसर आया है।

'दुर्लभ है संसार में... एक यथारथ ज्ञान'

सम्यग्ज्ञान सर्व प्रयोजन की सिद्धि का कारण होने से मंगलरूप है।

लोक में सर्व जन प्रसिद्ध है कि यथार्थज्ञान से सर्वसिद्धि है। प्रथम तो दर्शन की विशुद्धिपूर्वक भगवान अरिहंतदेव के प्रति परमभक्ति होती है—ऐसे सम्यक्त्वसहित और जिनभक्तिसहित ज्ञान को ही सच्चा ज्ञान कहा जाता है। अहा, जिनके वचनों से सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, उनके प्रति यदि परमभक्ति उल्लसित न हो तो वहाँ सम्यक्त्व की आराधना कहाँ से होगी? जिनके वचनों से सम्यक्त्व होता है, ऐसे देव-गुरु के प्रति परमभक्ति होती है; ऐसी भक्तिरहित ज्ञान, वह ज्ञान नहीं है परंतु अज्ञान ही है। तथा चैतन्य की प्रतीति होने पर अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद के समक्ष जगत के विषयों का स्वाद तुच्छ भासित होता है, इसलिये सहज ही विषयों से विरक्ति हो जाती है। यदि चैतन्यरस की परम प्रीति और विषयों से विरक्ति न हो तो उसने जाना क्या?—उसने संसार और मोक्ष के कारण को किसप्रकार जाना? विषय तो संसार के कारण हैं और विषयों से विरक्ति करके चैतन्यसन्मुख प्रवृत्ति, वह मोक्ष का कारण है। जो जीव संसार-मोक्ष के कारण को जानता है, उसे चैतन्यानंद के अनुभव की प्रीति है, और विषयों में जो आकुलता का वेदन है, उससे वह विरक्त होता है। अहा, जिसने चैतन्य के परम शांतरस का स्वाद लिया, उसे आकुलताजनक विषयों का रस क्यों रहेगा? इसप्रकार सम्यग्दर्शन होते ही चैतन्य का रसिक होकर जगत के विषयों से विरक्त होता है; इसलिये सम्यक्त्व भी महान शील है। ऐसे सम्यक्त्वरूपी शीलसहित हो, वह ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है; ज्ञान की और शास्त्रों को जानने की महत्ता तो सम्यक्त्व से ही है। सम्यग्दर्शनरहित ज्ञान की या शास्त्रों के ज्ञातृत्व की कोई बढ़ाई नहीं है। अहा, सम्यक्त्वसहित और विषयों से विरक्त ऐसा जो सम्यग्ज्ञान, वह सर्व प्रयोजन की सिद्धि का कारण है, इसलिये वह महान महिमावान है—इसप्रकार सम्यक्त्वसहित ज्ञान की जो महिमा की, वही मंगल है।

जिनरंजन या जनरंजन

[श्री तारणस्वामी रचित 'श्रावकाचार' के प्रवचनों से - आश्विन]

हे जीव! तुझे जिनरंजन करना है या जनरंजन? जिनेन्द्र भगवान कथित जो वीतरागी सम्यक्मार्ग, उसे पहिचानकर जिसने शुद्धदृष्टि प्रगट की, उसने सच्चा जिनरंजन किया, उसने भगवान को प्रसन्न किया, वह अल्पकाल में मोक्ष को साधेगा। और जो जीव लोकरंजन करने के लिये राग से धर्म मनवाकर विपरीत तत्त्व की प्ररूपणा करता है, वह भगवान के मार्ग का द्रोही है और वह दुर्गति में गिरता है... हे भाई! पहले सच्चा मार्ग समझकर सम्यग्ज्ञान प्रगट कर। अहा, भव्य जीव की सच्ची आँख तो सम्यग्ज्ञान है।

श्रावक के आचार अथवा श्रावक के धर्म में सर्वप्रथम आचार सम्यग्दर्शन है। दर्शन -आचारपूर्वक ही चारित्र-आचार होता है। वह सम्यग्दर्शन क्या है, उसकी यह बात है। सात तत्त्व या छह द्रव्यों में शुद्ध जीव को देखना, वह शुद्ध दर्शन है; ऐसे शुद्ध सम्यग्दर्शनसहित ही श्रावकधर्म होता है। सम्यग्दर्शन को अवलंबन किसका? शुद्ध आत्मा ही उसका अवलंबन है। आत्मा का स्वभाव रागरहित है, अजीव से भिन्न है; राग का या अजीव का अवलंबन, वह सम्यक्त्व का साधन नहीं है। परालंबी श्रद्धा, वह व्यवहार श्रद्धा है; निश्चय श्रद्धा में परावलंबन नहीं है, वह तो स्वाश्रितभाव है।

एक विकल्प का भी जिसमें कर्तृत्व नहीं है, ऐसा शुद्ध आत्मद्रव्य, उसके निर्विकल्प अनुभव से जिसने निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट किया, उसी की नवतत्त्व, छह द्रव्य या देव-गुरु-शास्त्र संबंधी श्रद्धा को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं।

श्री तारणस्वामी कहते हैं कि अरे! लोकरंजन करने के लिये जो विपरीत तत्त्व की प्ररूपणा करते हैं, वे भगवान के मार्ग के द्रोही हैं और वे नरकादि दुर्गति में गिरते हैं। जिसे शुद्धतत्त्व की प्रतीति नहीं है और राग के पोषण का उपदेश देने में तत्पर हैं, वे जीव जनरंजन करते हैं, परंतु जिनरंजन में नहीं वर्तते। जिनरंजन अर्थात् जिनेन्द्र भगवान की उपासना; जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ जो वीतराग सम्यक्मार्ग, उसे पहिचानकर जिसने शुद्धदृष्टि प्रगट की, उसने सच्चा जिनरंजन किया, उसने भगवान को प्रसन्न किया। मूढ़ जीव भगवान के मार्ग को

भूलकर राग से धर्म मनवाते हुए, लोकरंजन करने में वर्तते हुए अपने आत्मा का ही अहित करते हैं।

भाई, पहले सच्चा मार्ग तो समझ। जो विपरीत मार्ग का कथन करते हैं, उनका विश्वास मत करना। विपरीत मार्ग का उपदेश देनेवाले पाखण्डी जीवों का विश्वास करके जो विपरीत मार्ग का सेवन करते हैं, वे जिनमार्ग के द्रोही हैं; वे दुर्बुद्धि हैं। सद्बुद्धि तो उन्हें कहा जाता है कि जो सम्यक्मार्ग को जानें और सम्यक्मार्ग का ही प्रतिपादन करें, यहाँ तो कहते हैं कि हे मुमुखु! जहाँ विपरीत तत्त्व की प्ररूपणा चल रही हो, जहाँ पाखण्डियों का पोषण होता हो, ऐसे कुसंग के स्थान में तू मत जाना; उनका अनुमोदन मत करना। राग के अवलंबन से या व्यवहार के आश्रय से धर्म होता है—ऐसा प्रतिपादन करनेवाले जीव, जिनमार्ग के द्रोही हैं, धर्म के द्रोही हैं। भाई, जिनदेव ने तो वीतरागभाव को ही धर्म कहा है; ऐसे धर्म की तू परीक्षा कर.. और ऐसे जिनधर्मी का सच्चा उपदेश कहाँ मिलता है और उससे विपरीत प्ररूपणा कहाँ चलती है, उसे परीक्षा करके जानना। उसे जानकर जहाँ विपरीत मान्यता का पोषण चलता हो—ऐसे जनों का संग तू छोड़ देना।

शुद्ध ज्ञान प्रकाशक ऐसा आत्मा, उसकी निर्विकल्प शांति का वेदन करते हुए शुद्ध ज्ञान द्वारा जो शुद्ध आत्मा झलकता है, वही तारणहार तीर्थ है। सम्मेदशिखर आदि क्षेत्र तो व्यवहार तीर्थ हैं; उनकी यात्रा-पूजा-भक्ति में शुभभाव है। ऐसी यात्रा आदि का व्यवहार धर्मी को भी होता है; उसका कोई निषेध नहीं है; परंतु उसकी मर्यादा कितनी?—तो कहते हैं कि शुभराग और पुण्य बंध हो उतनी उसकी मर्यादा है। भव से पार होने और मोक्ष प्राप्त करने का साधन तो ज्ञान को ज्ञान में युक्त करना ही है और वही सच्चा प्रयोजन है। ज्ञान अंतर्मुख होकर आत्मस्वभाव में युक्त हो, वहाँ ज्ञान की वृद्धि होती जाती है... वह बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान और मोक्ष को साधता है।

ज्ञान का प्रयोजन यह है कि—केवलज्ञान को साधे! ऐसा सम्यग्ज्ञान ही सच्ची आँख है। अहो, भव्य जीव की सच्ची आँख सम्यग्ज्ञान है। उस सम्यग्ज्ञान के बिना जीव तो अंध जैसे ही हैं, वे मोक्षमार्ग को नहीं देखते। स्वानुभव से ज्ञानी के सम्यग्ज्ञानरूपी दिव्य नेत्र खुल गये हैं; वह भावश्रुतरूपी नेत्रों द्वारा सर्व तत्त्वों को जानकर मोक्षमार्ग को साधता है। इसप्रकार सच्चा नेत्र तो सम्यग्ज्ञान है।

ॐकार का वाच्य जो शुद्ध आत्मा, उसे धर्मी अंतर में अचक्षुदर्शन से देखता है अर्थात् इन बाह्य चक्षुओं से नहीं परंतु अंतर के ज्ञान चक्षुओं से देखता है। अचक्षुदर्शन सामान्यतः सभी छद्मस्थों को होता है, उस अचक्षुदर्शन की यह बात नहीं है, परंतु चक्षुइन्द्रिय से पार ऐसा जो अतीन्द्रिय भावश्रुतज्ञान, उसके द्वारा अंतर में देखने का नाम यहाँ 'अचक्षुदर्शन' समझना। इन बाह्य चक्षुओं से आत्मा दिखायी नहीं देता है; अंतर के भावश्रुतचक्षु से ही आत्मा दिखायी देता है। ऐसे अंतरचक्षु से आत्मा को देखनेवाले धर्मात्मा, वे पात्र हैं, आदरणीय हैं। सम्यग्दृष्टि भी दूसरे सम्यग्दृष्टि एवं मुनि को आहारदान आदि की भावना भाते हैं; ऐसे धर्मात्मा को भक्तिपूर्वक आहारदानादि करना, वह उच्च पुण्यबंध का कारण है। और शुद्धदृष्टिपूर्वक जितनी शुद्धपरिणति है, वह संवर-निर्जरा का कारण है। स्वद्रव्य के ही चिंतन से शुद्धपरिणति होती है, और परद्रव्य के चिंतन से तो रागादि होते हैं; इसलिये शुद्ध स्वद्रव्य के चिंतन में वर्तना और उसी की भावना करना – ऐसा उपदेश है।

आशा का गड्ढा

आत्मा अनंत चैतन्य समृद्धि से भरपूर है; परंतु अपनी अनंत आत्मसमृद्धि को भूला हुआ जीव जब बाह्य विषयों की तृष्णा करता है, तब वह तृष्णा भी अनंत होती है। उसकी तृष्णा का अनंत गड्ढा चाहे जितने बाह्य विषयों से भी पुरता नहीं है, मात्र स्वानुभव के अमृतपान द्वारा ही वह पुरता है। वैराग्य प्रधान आत्मानुशासन ग्रंथ में गुणभद्रस्वामी कहते हैं कि—

आशागर्त्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्।
तत्कियत कियदायाति वृथा वै विषयैषिता॥

इस संसार में प्रत्येक प्राणी के अंतर में आशारूपी गड्ढ़ा इतना गहरा है कि उसके निकट यह समस्त विश्व भी मात्र अणु समान है। इस परिस्थिति में यदि जीवों में विश्व को बाँट दिया जाये तो प्रत्येक जीव के भाग में कितना-कितना आयेगा? आशा तो अनंत है और विषय तो थोड़े ही हैं, इसलिये विषयों की आशा व्यर्थ है।

दो बातें

तेरी कमाई के भागीदार

भाई, जिस कमाई के लिये तू दिन-रात पाप भाव में डूबा रहता है, तेरी उस कमाई में तो तेरे परिवार के आठ-दस लोग भागीदार होंगे और सरकार भी अपना भाग लेगी; परंतु उसमें तू जो पापबंध करेगा, वह तेरे अकेले के हिस्से में आयेगा, तेरी उस पापकमाई में कोई भागीदार नहीं होगा; इसलिये पाप से भयभीत होकर अपना चित्त धर्म कार्य में लगा और धर्म की ऐसी कमाई कर कि जिसके फल में सादि-अनंत सुख का उपभोग तू अकेला कर सके।

[—चर्चा से]

धर्म की पहली प्रतिज्ञा

हे जीव! धर्म साधना के लिये पहली प्रतिज्ञा यह कर कि अपने ज्ञान में मैं पर का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करूँगा; तथा शुभाशुभ परभाव, वह मेरे स्वभाव की वस्तु नहीं है। इसप्रकार परद्रव्य का कर्तृत्व या परभाव तुझे अपने ज्ञान में स्वीकार्य नहीं हैं—ऐसी पहले प्रतिज्ञा कर, प्रतीति कर, सम्यक् दृढ़ता कर। ऐसी सम्यक् प्रतीतिरूप प्रतिज्ञा, वह धर्म साधना का मूल है। जो ऐसी प्रतिज्ञा करेगा, वही परभाव को छोड़कर स्वभावधर्म की प्राप्ति करेगा।

[—प्रवचन से]

समाचार संग्रह

भोपाल— तारीख ७-७-६६ वीर शासन जयंती का भव्य विशाल आयोजन किया गया, श्री सूरजमलजी, श्री राजमलजी पवैया, श्री राजमलजी बी.कॉम. आदि ने जिनवाणी की भक्ति और स्व-पर में तत्त्वज्ञान के प्रचार की भावना द्वारा आत्मकल्याण की विशेष प्रेरणा की।

इन्दौर— में भी भोपालवत् अच्छे पैमाने पर वीर शासन जयंती मनाई गई।

ग्वालियर (म.प्र.)— सिद्धचक्र विधान तथा श्री बाहुबलिस्वामी का महामस्तिक अभिषेक का अभूतपूर्व आयोजन जो धर्मप्रेमी श्री धन्नालालजी द्वारा रविव्रत-उद्यापन, विश्वशांति महायज्ञ व पूजा-अषाढ़ अष्टाह्निका पर बड़े उत्साहपूर्वक सम्पन्न हुआ। जिसमें सुप्रसिद्ध वक्ता श्री बाबूभाई मेहता एवं श्री कन्हैयालालजी जो दाहोद की मंडली सहित पधारे, प्रतिदिन दो बार प्रवचन तथा जिनेन्द्र भक्ति द्वारा यहाँ की जैन एवं अजैन जनता के दिल में अपूर्व धर्म प्रेम की भावनाओं के साथ दिल में छा गए। श्री बाबूभाई के प्रशस्त प्रवचन में कविवर संतलालजी रचित सिद्धचक्र विधान पूजा में जो अनुपम भाव भरे हैं उनका वर्णन, पाठ का अर्थ, पुण्य तथा धर्म का भिन्नत्व, व्यवहार निश्चय की व्याख्या, तत्त्वज्ञान की निर्मलता सुनकर सारी जनता गदगद हो जाती थी। श्री कानजीस्वामी की प्रसादीरूप इस शैली का समाचार सुनकर टूंडला, आगरा, एत्मादपुर, लश्कर आदि ८ गाँव से बड़े-बड़े लोग आकर जैन समाज की ओर से श्री बाबूभाई को अपने शहर में धर्म प्रभावनार्थ पधारने का भारी अनुरोध करने लगे। श्रावण कृष्ण १ को विशाल रथयात्रा निकाली गई, श्री जिनमंदिर पंचायत की धर्मशाला का शिलान्यास श्री बाबूभाई के हाथ से कराया गया, आपने ५०१) दान दिया। बाहर के और स्थानीय सज्जनों द्वारा ४०००) रुपया चंदा हो गया। उपरांत १०१)गोपालच तीर्थक्षेत्र कमेटी को भी दान दिया। पश्चात टूंडला से पधारे हुए श्री जिनेन्द्र कला केन्द्र नाट्य मंडल द्वारा एक नाटक का आयोजन किया गया, पश्चात् श्री बाबूभाई ने लश्कर, एत्मादपुर, आगरा में भी प्रवचन किये थे।

—लक्ष्मीचंद बरैया

ग्वालियर में धर्म प्रभावना के विशेष समाचार

आषाढ़ अष्टाह्निका में श्री धन्नालालजी के खास प्रयत्न द्वारा श्री बाबूभाई पधारे। खास सुनने के लिये भिण्ड, ढबरा, मौ, बामौरा, गोहद, झांसी, मेहगाँव, बीना, उज्जैन, इन्दौर,

भोपाल, सुमावली, विदिशा, आगरा, एत्मादपुर, टूंडला आदि के अनेक धर्म जिज्ञासु पधारे। मंदिरों में प्रवचन के समय इतनी भीड़ थी कि जो अभूतपूर्व थी, प्रवचनों में निश्चय-व्यवहार, अहिंसा, भक्ति, मोक्षमार्ग, उपादान निमित्तादि सर्वज्ञ वीतराग कथित सिद्धांतों का सुंदर दृष्टांतों के द्वारा इतना रोचक वर्णन हुआ कि श्रोतागण बड़े लालायित व आनंदित हुए। अनेक गलत धारणायें व गलत फहमियाँ दूर हुई। समाचार-पत्रों में जो पूज्य कानजीस्वामी के प्रति संदेह की खबरें आती हैं, वह निराधार प्रोपेगण्डा माद्ध है, नय विभाग की कथनी को बिना समझे कोई मनचाही बात कहे किंतु स्वामीजी के निरूपण में दिगम्बर जैन आम्नाय के प्रति जरा भी विरोध नहीं है। सोनगढ़ के साहित्य को समाज नय विभाग की दृष्टि से खुद अध्ययन करे, निर्णय करे, समझे, भ्रमात्मक खबरों के आधार पर भ्रम में न पड़ें। इसप्रकार अनेक समाधार दिये गये।

भक्ति की अपूर्व विशेषता— श्री कन्हैयालालजी, चंदुभाई (दाहोद), श्री बाबूभाई तथा अशोकनगर के सज्जनों ने नित्य दो दफे जिनेन्द्र भक्ति का कार्यक्रम रखा था, उनकी भक्ति की तल्लीनता देखते ही बनती थी। सभी दर्शक उस अनुपम दृश्य को देखकर बड़े आनंदित हुए, समवसरण में इन्द्र जैसी भक्ति का अवसर बना। जिनेन्द्र रथयात्रा में देव, शास्त्र और श्री कुन्दकुन्दाचार्य जुदे-जुदे स्वर्णमय रथ में विराजमान करके अनेक झंडे, साइनबोर्ड, बड़े सजधज से हाथी, घोड़े, गानेवालों की भक्त मंडली सहित जुलूस निकाला, हजारों की संख्या में अपार भीड़ थी। श्रीजी के रथ के साथ अपूर्व भक्ति होती जा रही थी 'रंग लाग्यो महावीरा थारो रंग लाग्यो' उनका यह भजन आज भी बारबार याद आता है। अपार भीड़ सहित जुलूस श्री गोकलचंदजी के मंदिर में पहुँचा, वहाँ भगवान का कलशाभिषेक हुआ, स्थानाभाव से हजारों नर-नारी ने दिक्कत उठाई, हम क्षमाप्रार्थी हैं।

तारीख ३-७-६६ रात्रि को श्री बाबूभाई का स्वागत समारोह प्रो० श्री जी.सी. कासलीवाल विधिविभाग जीवाजी विश्वविद्यालय की अध्यक्षता में हुआ।

प्राचीन प्रतिमाजी विषयक पर विशेष प्रोग्राम

ग्रेटर ग्वालियर में तीर्थरक्षा समिति के अध्यक्ष श्री बुधमलजी गंगवाल व श्री मुख्यमंत्री मिश्रीलालजी पाटनी तथा इसी समिति के प्रमुख कार्यकर्ता इंदौर निवासी श्री माणिकचंदजी सेठी, श्री नरेन्द्रकुमार पाटोदी, पंडित श्री नाथूलालजी शास्त्री, प्रो. जमनादासजी पधारे। उन्होंने समाज के सामने ग्वालियर-स्थित पहाड़ पर एक पत्थर की बावड़ी है, वहाँ पर बड़ी-बड़ी व

छोटी हजारों जिनप्रतिमा हैं। उनमें एक पद्मासन पार्श्वनाथ भगवान की बहुत उत्तम कला पूर्ण विशिष्ट वीतरागता दर्शक भव्य प्रतिमा है। श्री नाथूलालजी शास्त्री ने जानकारी कराई कि—सब साथियों सहित प्रतिमा को देखा गया, यह प्रतिमाजी अखंडित है, पूजनीय है। इस ओर समाज का ध्यान आकर्षित होते ही तत्काल समाज में १८००) रुपया का चंदा कर दिया, श्री बाबूभाई ने भी इस कार्य के लिये १०१), दान दिया। इस विषय में अनेक विद्वानों ने इस पहाड़ की उन्नति के लिये उत्तम क्षेत्र बनाने के लिये सुझाव दिये। श्री बाबूभाई को नगर ग्वालियर की समाज की ओर से सन्मान-पत्र भेंट किया गया, कापी वितरण की गई। पश्चात् श्री काशलीवालजी का बड़ा रोचक व पूज्य कानजीस्वामी व उनके अतिशय शासन प्रभाव की परिचयात्मक प्रशंसा मुक्त कंठ से गयी। २५ साल पुराना परिचय बताया, जिनवाणी का अतिप्रशस्त गुप्त रहस्य खोलने में पूज्य कानजीस्वामी का हम सबके ऊपर महान उपकार रहा है... अंत में भगवान के जय नादों के साथ कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। *—ब्रह्मचारी गुलाबचंद जैन*

जैन दर्शन शिक्षण शिविर

जिनेश्वर प्रणीत ज्ञानयज्ञ

हर साल माफिक इस साल भी श्रावण (द्वितीय) सुदी ६ रविवार, तारीख २१-८-६६ से तारीख ९-९-६६ तक २० दिन के लिए जैन शिक्षणवर्ग चलेगा, धर्म जिज्ञासुओं के लिये सप्रेम आमंत्रण है। आने के लिये प्रथम पत्र द्वारा सूचित करना जरूरी है, यह वर्ग भी मात्र पुरुषों के लिये ही है। व्यवस्था संस्था की ओर से होगी।

पत्र व्यवहार का पता—
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

नया प्रकाशन

श्रीमत्भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव विरचित

श्री नियमसारजी शास्त्र (दूसरी आवृत्ति)

सर्वज्ञ वीतराग कथित महान आध्यात्मिक भागवत् शास्त्र, ११ वीं शती के अध्यात्मरस के सर्वोत्तम कवि शिरोमणि श्री पद्मप्रभमलधारिदेव मुनिवरकृत संस्कृत टीका तथा अक्षरश: प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद सहित शास्त्र जिसकी तत्त्वज्ञान के जिज्ञासुओं द्वारा काफी जोरों से मांग है, पूर्णरूप से संशोधित, यह ग्रंथ महान, अनुपम, पवित्र तत्त्वज्ञान की अपूर्व निधि समान है। पृष्ठ संख्या ४१५, बड़ी साइज में, रेगजीन कपड़े की सुन्दरतम जिल्द मूल्य बहुत कम कर दिया है। मात्र ४/- पोस्टेजादि अलग। देश-विदेश में, कोलेज-विश्वविद्यालयों में-सर्वत्र सुंदर प्रचार के योग्य अत्यंत सुगम और सब प्रकार से सुंदर ग्रंथ है। जिज्ञासुगण शीघ्र ओर्डर भेजें।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री कहान-सूर्य प्रकाशन-माला

हित-पद-संग्रह (सचित्र)

धन्य नाम पवित्र आत्मार्थी द्वारा तत्त्वज्ञानमय शुद्ध आध्यात्मिक हृदय को उँडेलकर, अपूर्व चिन्तन, मनन, स्वानुभव द्वारा जो साहजिक काव्यधारा में लिखे गये वस्तु स्तवनमय आध्यात्मिक पदों का संग्रह, प्रकाशक—दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, २६, डिप्टीगंज, सदर बाजार, दिल्ली—६। पृष्ठ संख्या २८ सुन्दरतम बुक, मूल्य-५० पैसे, पोस्टेज - ०.१२ सोनगढ़ से भी यह बुक मिलेगी।

इन्दौर जैन समाज से प्रार्थना

मध्यप्रदेश दिगम्बर जैन तीर्थ समिति की इन्दौर शाखा द्वारा स्थानीय दिगम्बर जैन धर्मावलंबियों के संबंध में जानकारी एकत्रार्थ जनगणना करने का निश्चय किया गया था, यह कार्य प्राय: समाप्त होने जा रहा है। फिर भी यदि कोई भाई जनगणना के फार्म भरने से छूट गये हों, तो निवेदन है कि सर हुकमचंद मार्ग शीश महल कार्यालय से फार्म प्राप्त कर उनको १५ अगस्त ६६ तक कार्यालय में अवश्य भिजवाने का कष्ट करें।

—मनोहरलाल, मंत्री श्री म०प्र० दि० जैन तीर्थ रक्षा समिति, शीशमहल, इंदौर

परमपूज्य श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक वचनों का अपूर्व
लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों का—

अवश्य स्वाध्याय करें

श्री समयसार शास्त्र	५–०
श्री प्रवचनसार शास्त्र	४–०
श्री नियमसार शास्त्र	४–०
श्री पंचास्तिकाय संग्रह शास्त्र	३–५०
समयसार प्रवचन, भाग १–२–३	अप्राप्य
समयसार प्रवचन भाग ४	४–०
[कर्ताकर्म अधिकार, पृष्ठ ५६३]	
आत्मप्रसिद्धि	४–०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका (तृ०), पृष्ठ–९००	५–०
स्वयंभू स्तोत्र	०–५०
मुक्ति का मार्ग	०–५०
मोक्षमार्ग–प्रकाशक की किरणें प्र०	१–०
'' ''द्वितीय भाग	२–०
जैन सिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला, भाग १–२–३	०–६०
योगसार–निमित्त उपादान दोहा, बड़ा टा.	०–१२
श्री अनुभवप्रकाश (दीपचंद्रजी कृत)	०–३५
श्री पंचमेरु पूजा संग्रह आदि	१–०
बृ.दसलक्षण धर्मव्रत उद्यापन पूजा	०–७५
देशव्रत उद्योतन प्रवचन	६–०
अष्टप्रवचन (ज्ञानसमुच्चयसार)	१–५०
मोक्षमार्गप्रकाशक (श्री टोडरमलजी कृत) आधुनिक भाषा में	प्रेस में
समयसार कलश टीका (पं. राजमल्लजी पांडे कृत) आधुनिक भाषा में	प्रेस में

[डाकव्यय अतिरिक्त]

जैन बाल पोथी	०–२५
छहढाला बड़ा टाईप (मूल)	०–१५
छहढाला (नई सुबोध टी.ब.) सचित्र	१–०
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	प्रेस में
सम्यग्दर्शन (तीसरी आवृत्ति)	१–८५
जैन तीर्थयात्रा पाठ संग्रह	१–४५
अपूर्व अवसर अमर काव्य पर प्रवचन प्रवचन और श्री कुंदकुंदाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा व लघु सामा. प्रेस में	
भेदविज्ञानसार	२–०
अध्यात्मपाठ संग्रह	४–०
वैराग्य पाठ संग्रह	१–०
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	०–१५
स्तोत्रत्रयी	०–५०
लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०–२५
'आत्मधर्म मासिक' इस एक वर्ष के लिये	२–०
'' पुरानी फाईलें सजिल्द	३–७५
शासन प्रभाव तथा स्वामीजी की जीवनी	०–१२
जैनतत्त्व मीमांसा	१–०
बृ०मंगल तीर्थयात्रा सचित्र गुजराती में ग्रन्थ का मात्र	१८) ६–०
अभिनंदन ग्रंथ	७–०

मिलने का पता—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक—नेमीचन्द बाकलीवाल, कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज (किशनगढ़)
प्रकाशक—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट के लिये—नेमीचन्द बाकलीवाल।